जन मीडिया

वर्ष-6, अंक-66 सितम्बर 2017

हमारा समाज, हमारा शोध ₹20

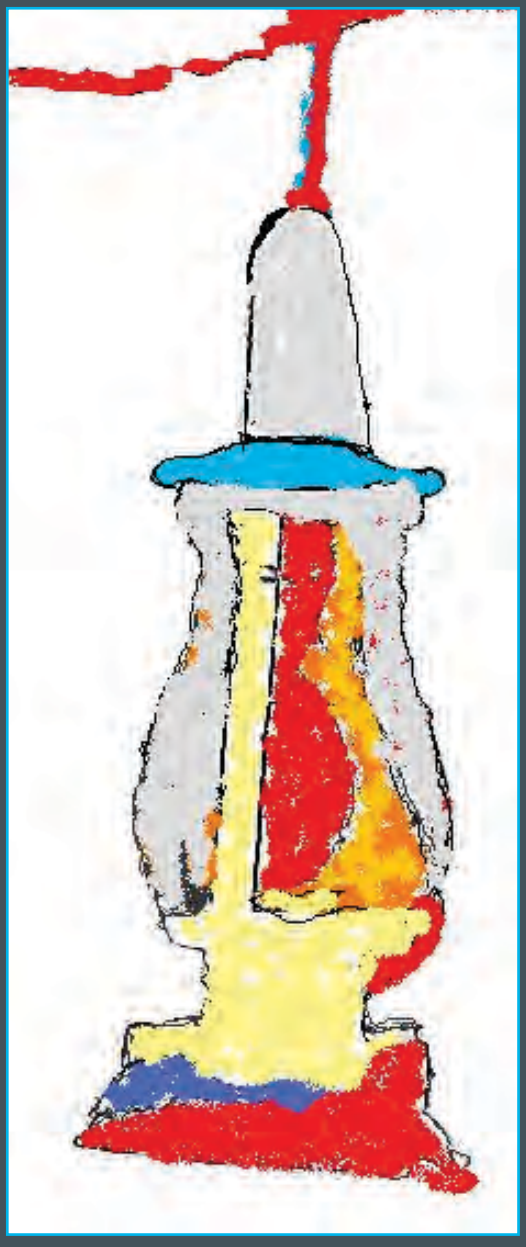

- जिंदाबाद मुर्दाबाद के बीच फंसी देशभक्ति और मीडिया
- शिक्षित मुस्लिमों की उर्दू समाचार पत्रों में दिलचस्पी नहीं
- विज्ञापन की विचारधारा के आयाम
- यह खबर रचने का वक्त है

ISSN 2277-2847

जन मीडिया

66

संपादक
अनिल चमड़िया

सहायक संपादक
अवनीश
पूर्णिमा उरांव
संजय कुमार बलौदिया

वेबसाइट प्रभारी
श्वेता सिंह

कला
गोपाल नायडू

पेज डिजाइन
प्रदीप बिष्ट

प्रसार
मुकुल रंजन (9953991306)
subscribe.journal@gmail.com

संपर्क
सी-2, पीपलवाला मोहल्ला, बादली
एक्सटेंशन, दिल्ली-42
मो. : 9910638355, 9654325899
e-mail :
janmedia.editor@gmail.com
follow us :
facebook.com/JanMedia Journal/
Website
www.mediastudiesgroup.org.in

4. **जनशोध**
जिंदाबाद मुर्दाबाद के बीच फंसी देशभक्ति और मीडिया
शरद जायसवाल

10. **शोध-संदर्भ**
शिक्षित मुस्लिमों की उर्दू समाचार पत्रों में दिलचस्पी नहीं
शाहीन नजर

15. **अध्ययन**
गांधी की पत्रकारिता का दलित संदर्भ
कृपाशंकर चौबे

20. **दस्तावेज**
विज्ञापनों की थोथी राजनीति
कांशीराम

21. **अध्ययन**
विज्ञापन की विचारधारा के आयाम
डॉ. मीना कुमारी

28. **मीडिया के किस्से**
यह खबर रचने का वक्त है
राजेश कुमार

30. **शोध-संदर्भ**
मीडिया से ज्यादा ट्रंप पर भरोसा

इस अंक की सामग्री से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। समस्त विवाद दिल्ली न्यायिक क्षेत्र में विचाराधीन होंगे। सभी पद अवैतनिक हैं।

जिंदाबाद मुर्दाबाद के बीच फंसी देशभक्ति और मीडिया

शरद जायसवाल*

मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल से 350 किलोमीटर की दूरी पर स्थित ऐतिहासिक शहर बुरहानपुर के छोटे से गांव मोहद में 18 जून 2017 को जो कुछ हुआ, उसकी कल्पना यहां के लोगों ने शायद ही की होगी। 18 जून 2017 को चैंपियंस ट्रॉफी के भारत पाकिस्तान के फाइनल मैच के खत्म होने के कुछ देर बाद ही बुरहानपुर से मात्र बीस किलोमीटर की दूरी पर स्थित मोहद गांव में अचानक पुलिस की दबिश होती है और कुछ लड़कों को पुलिस गिरफ्तार करके ले जाती है। पुलिस के द्वारा उन लड़कों पर आरोप लगाया जाता है कि उन्होंने पाकिस्तान की जीत की खुशी में पटाखे फोड़े, पाकिस्तान जिंदाबाद के नारे लगाये और मिठाइयां बांटी। सुबह होने तक गांव के कुल 15 लड़कों को गिरफ्तार किया जाता है और पुलिस उन पर राजद्रोह का मुकदमा लगाती है। पुलिस ने जिस शख्स को इस घटना का मुख्य गवाह व शिकायतकर्ता बनाया, उसी गवाह (सुभाष कोली नाम के नौजवान के) द्वारा पुलिस पर ये आरोप लगाया गया कि पकड़े गए लड़के बेगुनाह हैं, उन्हें फर्जी तरह से फंसाया गया है। सुभाष कोली के इस बयान से पुलिस द्वारा अपनाये गए हथकंडे ने एक बार फिर से उसकी सांप्रदायिक कार्यप्रणाली को उजागार कर दिया।

दरअसल हिन्दुस्तान के बंटवारे के बाद से ही हिंदुत्व लगातार इस बात को प्रचारित और प्रसारित करता रहा है कि यहां के मुसलमानों की सहानुभूति और प्रतिबद्धता पाकिस्तान के साथ है। संघ परिवार गोएबल्स की उस रणनीति पर शुरू से काम कर रहा है कि अगर एक झूठ को सौ बार बोला जाए तो जनता उसे सच मान लेती है। इसी प्रयोग को उसने बड़ी चतुराई के साथ भारत और पाकिस्तान के बीच होने वाले क्रिकेट मैच के दरम्यान भी इस्तेमाल किया है। मोहद (बुरहानपुर) की घटना इस मायने में अलग है कि खुद राज्य हिंदुत्व के इस तर्क को वैधता प्रदान कर रहा है कि देश के मुसलमानों की सहानभूति पाकिस्तान के साथ है। यह घटना जाहिर करती है कि भारतीय राज्य के अन्दर मुसलमानों को देशद्रोही बताने को लेकर कितना ज्यादा उतावलापन है। मोहद की घटना से पहले तक मुसलमानों को देशद्रोही कहने के लिए आतंकवाद के मामले में फंसाया जाता था, लेकिन पहली बार राज्य के द्वारा क्रिकेट के बहाने मुसलमानों को देशद्रोही बताया जा रहा है।

मीडिया की भूमिका

अगर हम पिछले 70 सालों के संसदीय लोकतन्त्र के विकास पर गौर करें कि जो लड़ाई सेक्युलर डेमोक्रेसी को सांप्रदायिकता से लड़नी थी, लेकिन वह लड़ी नहीं गयी। आजादी के बाद घटने वाली सांप्रदायिक हिंसा की तमाम सारी घटनाएं इसका सबूत हैं। इन तमाम सारी घटनाओं व सेक्युलर राज्य की निष्क्रियता ने लोकतान्त्रिक ढांचे के अंदर हिन्दुत्व के लिए सहमति निर्मित करने में बड़ी भूमिका अदा की। सरकार, पुलिस, न्यायपालिका और समूचा विपक्ष इसी हिंदुत्ववादी ढांचे को मजबूत करने में अपनी ऊर्जा खर्च कर रहे हैं।

एक माध्यम के बतौर मीडिया, जिसका काम इस पूरे प्रजातांत्रिक ढांचे में होने वाली गड़बड़ियों की शिनाख्त करना, उसे उजागर करने के साथ-साथ भारतीय राज्य अगर संविधान के मुख्य उसूलों में से एक धर्मनिरपेक्ष मूल्यों की कसौटी पर खरा नहीं उतर रहा है तो यह भी मीडिया के लिये चिंता का विषय होना चाहिए था और राज्य के बदलते स्वरूप पर

मीडिया के द्वारा सवाल खड़े किए जाने चाहिए थे। लेकिन हम देखते हैं कि सांप्रदायिक हिंसा के समय आम तौर पर मीडिया में आने वाली खबरें पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं होती हैं।[1] बहुसंख्यक सांप्रदायिकता के स्वरों को आसानी के साथ इन खबरों में तलाशा जा सकता है। खासतौर पर राम मंदिर आंदोलन के बाद से खबर का एक रिश्ता हिन्दुत्व के विचारों के साथ बना है। अब खबर सिर्फ खबर नहीं है बल्कि हिन्दुत्व के विचारों को प्रचारित-प्रसारित करने का एक जरिया भी है। हिंदुत्ववादी लोकतान्त्रिक ढांचे में मुख्यधारा का अधिकांश मीडिया भी समाहित होने के लिए तत्पर दिखाई दे रहा है। पिछले कुछ सालों में क्रिकेट के नाम पर जिस तरह का उन्मादी राष्ट्रवादी माहौल तैयार किया गया है उसमें बाजार के साथ-साथ मीडिया की बड़ी भूमिका है।[2] जब महाराष्ट्र की प्रमुख सत्ताधारी पार्टी खुलेआम यह फतवा जारी करती है कि भारत की जमीन पर पाकिस्तान को मैच नहीं खेलने दिया जाएगा। तो दूसरी तरफ सांप्रदायिक संगठनों के सुर में सुर मिलाते हुए जी न्यूज के मालिक सुभाष चन्द्रा कहते हैं कि इंडिया पाकिस्तान के बीच होने वाले मैच से जुड़ी किसी भी खबर का प्रसारण उनका चैनल नहीं करेगा। (http://indianexpress.com/article/sports/cricket/india-vs-pakistan-icc-champions-trophy-2017-zee-news-boycott-match-in-support-of-armed-forces-4688876/) क्रिकेटिया राष्ट्रवाद की परिघटना से बाजार, हिन्दुत्व और मीडिया के आपसी रिश्तों की शिनाख्त आसानी से की जा सकती है। मीडिया के अंदर सांप्रदायिकता के स्वरों का प्रतिबिंब हमें मोहद की घटना में भी दिखाई देता है। हम यहां पर मीडिया में आने वाली खबरों का भी एक संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं।

हिन्दी मीडिया

मोहद गांव से 15 लोगों की गिरफ्तारी और उन पर लगाये गए राजद्रोह के मुकदमें को प्रिंट और इलेक्ट्रोनिक माध्यमों में पर्याप्त जगह दी गयी। 20 जून 2017 को ही नई दुनिया और दैनिक भास्कर ने प्रमुखता से इस खबर को लगाया। दैनिक भास्कर ने दो कॉलम की खबर *पाक जिंदाबाद के लगाए नारे, पंद्रह युवकों पर केस* के शीर्षक से एक खबर लगाई। खबर में कहा गया है कि 'मोहद में रविवार की रात भारत पाकिस्तान क्रिकेट मैच के बाद पाकिस्तान जिंदाबाद और पटाखे फोड़ने के आरोप में करीब पंद्रह आरोपियों पर देश विरोधी कृत्य का केस दर्ज किया। आरोपियों को गिरफ्तार कर लिया है। मंगलवार को कोर्ट में पेश करेंगे। अखबार के अगले पैरे में कहा गया है कि रात में मैच खत्म होने के बाद युवक घर से निकले और गांव में घूम कर पटाखे फोड़े। पाकिस्तान जिंदाबाद के नारे लगाए।... आरोपियों ने गांव के इमली चौराहा, बस स्टैंड, बड़ी मस्जिद, मुजफ्फर कोटवार के घर के सामने पटाखे फोड़े। पुलिस ने आरोपियों पर धारा 120(ख), 124(क) के तहत भारत विरोधी कृत्य और देश के प्रति घृणा का माहौल पैदा करने का केस दर्ज किया।'

20 जून 2017 को ही नई दुनिया में *पाकिस्तान जिंदाबाद के नारे, 15 पर देशद्रोह का प्रकरण* के शीर्षक से खबर छपी। खबर में कहा गया है कि 'आईसीसी चैंपियन ट्रॉफी के फाइनल मैच में पाकिस्तान की जीत पर आतिशबाजी और नारेबाजी से रविवार ग्राम मोहद में तनाव की स्थिति बन गई। इस मामले में पुलिस ने 15 नामजद सहित अन्य लोगों के खिलाफ देश-विरोधी कृत्य के लिए देशद्रोह का प्रकरण दर्ज किया गया है।' अखबार आगे लिखता है कि 'पुलिस के अनुसार शाहपुर थाना क्षेत्र के ग्राम मोहद में भारत-पाकिस्तान के मैच समाप्त होने पर रात 10 बजे के लगभग गांव के सार्वजनिक स्थानों पर समाज विशेष के लोगों द्वारा 'पाकिस्तान जिंदाबाद' और भारत विरोधी नारे लगाकर आतिशबाजी की गई। इससे गांव में माहौल बिगड़ता देख पुलिस को मोर्चा संभालना पड़ा। सूचना मिलने पर शाहपुर से थाना प्रभारी संजय पाठक, निरीक्षक देवी प्रसाद बिसेन, परसराम पटेल, राम आसरे यादव ने पुलिस बल के साथ मोहद पहुंचकर नारेबाजी करने वाली भीड़ को खदेड़ दिया। शाहपुर पुलिस ने सुभाष लक्ष्मण कोली, निवासी मोहद की शिकायत पर 15 नामजद व्यक्तियों सहित अन्य के विरुद्ध देश के खिलाफ साजिश, अपमान, विद्रोह की धाराओं में प्रकरण दर्ज किया है।' इस खबर के आखिरी हिस्से में एक बॉक्स बनाकर *'गांव में शांति है'* के शीर्षक से टीआई संजय पाठक का बयान भी लगाया गया है।

20 जून 2017 को जागरण.कॉम में *भारत पाकिस्तान मैच के बाद लगाए पाकिस्तान जिंदाबाद के नारे 15 लोग गिरफ्तार,*[3] खबर में अंदर जो भी कहा गया है वो दोहराव मात्र है, पत्रिका और भास्कर की खबरों को यहां हूबहू कॉपी-पेस्ट किया गया है। लेकिन शीर्षक से जो चीज संप्रेषित हो रही है वह यह कि गांव के एक बड़े समूह ने पाकिस्तान जिंदाबाद के नारे लगाए जिसमें से मात्र 15 लोगों को ही गिरफ्तार किया गया है। वेबसाइट ने जिस तस्वीर को लगाया है वह भी कहीं और से उठाई गई है।

नई दुनिया और दैनिक भास्कर में छपी खबरों को देखने से स्पष्ट होता है कि खबरें पुलिस के द्वारा गढ़ी गई कहानी की पुष्टि करती हैं। खबरों में जगह-जगह पुलिस के द्वारा स्थापित तथ्यों को तलाशा जा सकता है। दोनों ही खबरों को देखने से मालूम पड़ता है कि इस खबर को लिखने वालों ने गांव के किसी भी व्यक्ति से कोई संपर्क करने की कोशिश नहीं की। यहां तक कि शिकायतकर्ता सुभाष कोली, जिसने पुलिस पर ही गंभीर आरोप लगाए हैं, उससे भी बात करने की कोई जरूरत अखबार के पत्रकारों ने नहीं समझी। गांव में सब कुछ सामान्य था, उसके बाद भी अखबार ने ये खबर लगाई कि ग्राम मोहद में तनाव की स्थिति बन गई। पुलिस ने तीन चरणों में गिरफ्तारी की जिसमें सोते हुए लोगों को उनके घरों से घसीटते हुए, मारते-पीटते हुए थाने में ले जाया गया। इससे उलट अखबार यह लिख रहा है कि गांव में माहौल बिगड़ता देख पुलिस को मोर्चा संभालना पड़ा। यहां तक कि अखबार यह भी कह रहा है कि पुलिस ने नारेबाजी करने वाली भीड़ को खदेड़ दिया। इन खबरों से यह साफ होता है कि पुलिस के वक्तव्य को हूबहू टाइप कर दिया गया, पत्रकार को इसे क्रॉसचेक करने की जरा सी भी जरूरत महसूस नहीं हुई। बुरहानपुर में यह पहला वाकया है जब 15 लोगों पर एक साथ राजद्रोह का मुकदमा दायर किया गया हो और उनके परिवार के किसी भी व्यक्ति से पत्रकारों ने कोई बातचीत नहीं की। जबकि इसी खबर में टीआई संजय पाठक के बयान को तरजीह दी गई है।

21 जून 2017 के दैनिक भास्कर में *4 हजार रुपये की शर्त जीतने के लिए लगाए थे देश विरोधी नारे, एसटीएफ ने की छानबीन* नाम से एक खबर आई। इसके पहले कॉलम में अंदर की खबर में कहा गया है कि 'मामले की छानबीन में खंडवा व इंदौर से एसटीएफ की टीम भी दोपहर 3 बजे कोर्ट व ग्राम मोहद पहुंची। आरोपियों के परिजनों का कहना है कि चार हजार रुपये की शर्त जीतने के चक्कर में युवकों ने नारेबाजी की।' दूसरे कॉलम में *तत्काल सुनवाई के लिए किया आग्रह* के शीर्षक से लगी खबर में अंदर कहा गया है कि 'आरोपियों को पेश करने से पहले ही न्यायालय से आग्रह किया गया कि मामला गंभीर है, आरोपियों की तत्काल सुनवाई हो तो बेहतर रहेगा।... इस दौरान जैसे ही वकीलों को पता चला तो कोर्ट के बाहर नारेबाजी कर माननीय न्यायालय से मांग की कि आरोपियों को जमानत न दी जाए। कुछ वकीलों ने हिंदुस्तान जिंदाबाद, पाकिस्तान मुर्दाबाद, देशद्रोहियों को फांसी दो के नारे लगाए।' चार कॉलम की इस खबर में सब-हेडिंग के साथ *पुलिस अलर्ट नहीं होती तो कोर्ट में पिट जाते आरोपी* शीर्षक से खबर लगाई कि 'मामला मीडिया में आने के बाद वकीलों ने यह तय कर लिया था कि आरोपियों की तरफ से पैरवी कोई नहीं करेगा, कुछ व्यक्तियों ने पिटाई की तैयारी भी कर ली थी... आक्रोशित वकीलों ने अभिभाषक संघ के अध्यक्ष राजेश कोरावाला को लिखित शिकायत कर किसी भी वकील को पैरवी नहीं करने का प्रस्ताव रखा।'

अखबार के आधे पेज में छपी इस खबर को देखने से यह साफ होता है कि खबर के माध्यम से जिले में सनसनी फैलाने का काम अखबार कर रहा है। इस पूरी घटना के तार आतंकी घटना से जोड़ने की कोशिश की जा रही है, इसीलिए इस बात को प्रमुखता से कहा गया कि एसटीएफ ने छानबीन की। खबर में चार हजार रुपये की शर्त वाली बात को आरोपियों के परिजनों के हवाले से बताया गया है। जबकि हमने खुद गांव के तमाम सारे लोगों से बात-चीत की, आरोपियों के परिजनों से बात-चीत की लेकिन ऐसी किसी खबर की पुष्टि उनके द्वारा नहीं की गई। इस पुलिसिया वर्जन को या फिर पत्रकार की मनगढ़ंत कहानी को खबर बना दिया गया। खबर में वकीलों के द्वारा आरोपियों के लिए फांसी की बात, आरोपियों के केस को न लड़ने की बात पर अखबार की कोई नकारात्मक प्रतिक्रिया नहीं दिखाई पड़ी। जबकि हम जानते हैं कि किसी भी आरोपी को इंसाफ पाने का लोकतान्त्रिक हक है। इसके बावजूद अखबार यह लिख रहा है कि वकीलों ने यह तय कर लिया था कि 'आरोपियों की तरफ से पैरवी कोई नहीं करेगा' कुछ वकीलों ने पिटाई की भी तैयारी कर ली थी। अखबार 'आक्रोशित वकीलों' जैसे शब्दों का प्रयोग कर रहा है। आरोपियों की पिटाई, वकीलों के आक्रोश में होने को अखबार बहुत ही स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत कर रहा है। यानि अखबार के लिए वकीलों का गुस्सा जायज है। अखबार की जरा सी भी संवेदना आरोपियों के लोकतान्त्रिक अधिकारों में नहीं है।

21 जून 2017 को पत्रिका के आधे पेज में दो तस्वीरों के साथ 5 कॉलम की खबर के माध्यम से इस घटना के बारे में बताया है। जिसमें पहले कॉलम में *क्रिकेट में पाक की जीत पर नारेबाजी करने वाले 15 आरोपियों को किया कोर्ट में पेश, भेजा खंडवा जेल* के शीर्षक से लगी खबर के अंदर यह कहा गया है कि मंगलवार जब पुलिस आरोपियों को लेकर कोर्ट पहुंची तो वकीलों ने जमकर नारेबाजी

की। इधर आरोपियों को न्यायालय में लाने की खबर मिलने पर हिंदू संगठन भी पहुंच गया, उन्होंने भी यहां नारेबाजी की। *दहशत में आरोपियों ने लगाए भारत माता की जय के नारे* के शीर्षक से छपी खबर के अनुसार दो दिन पहले पाकिस्तान जिंदाबाद के नारे लगाने वाले आरोपियों को मंगलवार जब शाहपुर थाने से बाहर निकाला गया, तो प्रांगण में राष्ट्रगान चल रहा था। पुलिस को देखकर डर से आरोपी भी भारत माता की जय के नारे लगाने लगे।... थाना प्रभारी संजय पाठक ने बताया कि 'मामला सामने आने के बाद मोहद व आस-पास के संवेदनशील क्षेत्रों में नजर रखी जा रही है।'

खबर को देखने से यह पता चलता है कि घटना के दो दिन बीतने के बाद भी वास्तविक घटना का पता लगाने के लिए कोई भी पत्रकार मोहद गांव नहीं गया या गया भी हो, लेकिन गांव के लोगों का कोई वर्जन खबर में मौजूद नहीं है। यहां तक कि सुभाष कोली से भी कोई बातचीत नहीं की गई। इस पूरी घटना में हिंदू संगठनों की सक्रिय भूमिका, जो न्यायालय के बाहर नारेबाजी के रूप में घटित हुई थी और इस घटना के बहाने हिंदू संगठन जिस सांप्रदायिक गोलबंदी का प्रयास कर रहे थे, उसको भी अखबार पूरी तरीके से नजरअंदाज कर रहा है। अखबार जब ये कहता है कि दहशत में आरोपियों ने लगाए भारत माता की जय के नारे तो इस घटना के माध्यम से अखबार यह बताना चाहता है कि इस देश के अल्पसंख्यकों को जब तक डराकर, धमकाकर दहशत में नहीं रखा जाएगा तब तक पाकिस्तान के प्रति उनकी जो हमदर्दी है वह खत्म नहीं होगी। इस पूरी घटना के बहाने पूरे बुरहानपुर जिले को संवेदनशील क्षेत्र में तब्दील कर दिया गया है। जिस शहर का इतिहास साझी-संस्कृति वाला रहा हो उसे अखबार संवेदनशील इलाके में तब्दील कर रहा है।

21 जून 2017 को ही पीपुल्स समाचार ने *पाकिस्तान की जीत पर मोहद में मनाया जश्न, मिली सजा* के शीर्षक व *देशद्रोहियों के खिलाफ आक्रोश, 15 युवक गिरफ्तार, कोर्ट ने भेजा जेल* के उप-शीर्षक से चार कॉलम की एक खबर लगाई गई। इसी खबर के साथ एक और उप-शीर्षक से चैंपियन्स ट्रॉफी के फाइनल के बाद गांव में निकाला जुलूस खबर लगाई गई है। खबर में लिखा गया है कि 'पाकिस्तान क्रिकेट टीम की जीत का जश्न कश्मीर में मनाने की खबर के बीच शहर के एक गांव से आई सूचना ने लोगों को झकझोर कर रख दिया। यहां पर 15 युवक भारत-पाकिस्तान के बीच चैम्पियंस ट्रॉफी के फाइनल मैच के दौरान भारतीय टीम की हार पर पाकिस्तान जिंदाबाद के नारे लगाकर आतिशबाजी कर रहे थे।'... दूसरे कॉलम में अखबार कहता है कि 'कोर्ट में युवकों को लाते ही बजरंग दल के कार्यकर्ताओं सहित अधिवक्ता हेमंत पाटिल ने 'भारत जिंदाबाद', 'पाकिस्तान मुर्दाबाद', 'जूते मारों गद्दारों को' के नारे लगाए।... खाते देश की, गाते पाकिस्तान की जिस तरह से ये मामला सामने आया है वह हैरान करने वाला है। जो युवा इसमें शामिल हैं उनकी उम्र काफी कम है। ऐसे में यह चिंता का विषय है कि ये युवक खाते इस देश की हैं और गाते पाकिस्तान की हैं। चंद युवकों की शर्मनाक हरकत ने गांव के लोगों को शर्मसार कर दिया।'

इसी खबर में आगे कहा गया कि 'कश्मीर के बाद देश में यह दूसरा मामला सामने आया है जहां क्रिकेट में भारत की हार पर जश्न मनाया गया। कोर्ट में खासा गहमा-गहमी का माहौल था। लोगों का कहना है कि गंगा-जमुना संस्कृति के लिए जाना-जाने वाले बुरहानपुर को किसकी नजर लग गई। किसी ने सोचा भी नहीं था, हमारे अपने शहर के एक गांव में युवाओं की एक टोली भारत की हार पर जश्न मनाएगी। यही नहीं पाकिस्तान जिंदाबाद के नारे भी लगेंगे। जिले में सिमी की गतिविधियां भी कई बार सुर्खियों में रही है। ऐसे में यह अब जांच का विषय है कि आखिर इन युवाओं का मकसद क्या था, पहले से पटाखे लाकर रखे गए थे। पूरे गांव की गलियों में घूमकर आतिशबाजी कर जश्न मनाना कई सवाल खड़े कर रहा है।

इस खबर को देखने से अखबार का मुस्लिम विरोधी पूर्वाग्रह खुलकर सामने आ जाता है। खबर के शुरू में ही मोहद की घटना को कश्मीर से जोड़ा जा रहा है और बुरहानपुर के मुसलमानों का रिश्ता कश्मीर से जोड़ा जा रहा है। खबर से निकलने वाली ध्वनि यह बताती है कि मुसलमान चाहे बुरहानपुर का हो, चाहे कश्मीर का हो उसकी प्रतिबद्धता पाकिस्तान के साथ है। अखबार बेशर्मी की सारी हदों को पार करते हुए अपनी इस धारणा की पुष्टि करता है कि खाते देश की, गाते पाकिस्तान की। अखबार ने अपनी इस खबर को वैधता देने के लिए खबर में सिमी की गतिविधियों का भी सहारा लिया। अखबार एक तरफ बुरहानपुर की गंगा-जमुनी संस्कृति का हवाला देकर यह जताना चाहता है कि अखबार इसी संस्कृति का पक्षधर है, लेकिन यहां के मुसलमान इसके खिलाफ हैं। अखबार इस पूरे मामले को एक बड़ी साजिश के रूप में प्रस्तुत कर रहा है कि 'आखिर इन युवाओं का मकसद क्या

था व इस घटना को सिमी के साथ जोड़ने का आशय साफ है कि इस घटना को भी वह एक आतंकवादी साजिश के रूप में परोस रहा है।

अंग्रेजी मीडिया

20 जून 2017 को जी न्यूज की वेबसाइट पर 15 arrested in mp for shouting pro-pakistan slogans after India's champions loss, charged with sedition[4] शीर्षक से छपी खबर में जो भी कहा गया वो एएनआई और हिंदुस्तान टाइम्स की खबर के हवाले से लिखा गया है।

21 जून 2017 को न्यूज 18 की वेबसाइट पर 15 men in mp booked for sedition after pro-pak slogans, during cricket final[5] के शीर्षक से छपी खबर में पुलिस द्वारा कहा गया है कि उन्हें एक शिकायत मिली कि इंडिया ने बैटिंग करते समय जब अपना तीसरा विकेट गंवाया तो उस समय कुछ लोगों ने पटाखे फोड़े और जश्न मनाया। विराट कोहली और उनकी कंपनी जब क्रिकेट मैच हार गई तो वहां पाकिस्तान के समर्थन में नारे लगाए गए।

वेबसाइट अपनी अंतिम लाइन में लिखती है कि गिरफ्तार लोगों के परिजनो से उनकी प्रतिक्रिया जानने के लिए कोई संपर्क नहीं हो पाया। वेबसाइट ने इस खबर के साथ-साथ एक तस्वीर भी लगाई है। जिसमें एक समूह और समूह में छोटे-छोटे बच्चों से लेकर बड़े लोग भी शामिल हैं और यह समूह रोशनी वाले पटाखे फोड़ता हुआ दिखाई दे रहा है।

अंग्रेजी का प्रिंट मीडिया भी हिन्दी वालों से पीछे नहीं है और पूरी खबर में सिर्फ पुलिस का ही बयान है और कहीं पर भी घटना के साथ कथित शब्द का इस्तेमाल नहीं किया गया और न ही फरियादी से इस सिलसिले में कोई बात की गई है। फोटो को भी इस तरीके से लगाया गया है कि जो खबर को एकदम पुख्ता बना रही है। जबकि खुद फरियादी ने या गांव के किसी भी व्यक्ति ने किसी को भी वहां पटाखे फोड़ते हुए नहीं देखा। अखबार में लगाई गयी तस्वीर एक तरीके का स्टीरियोटाइप्ड है। यह तस्वीर बिल्कुल उसी कहानी को दर्शाती है, जब किसी अखबार में नक्सलवाद से जुड़ी स्टोरी लगती है तो उसमें कुछ हथियार लिए हुए लोगों को ट्रेनिंग लेते हुए दिखाया जाता है। जबकि उस तस्वीर से घटना का कोई रिश्ता नहीं होता है। ठीक यहां पर भी तस्वीर के सहारे जनमत बनाने की कोशिश की जा रही है।

22 जून 2017 के इंडियन एक्सप्रेस में मिलिंद घटवई की *No one knows who cheered Pak win, sedition charge dropped*[6] शीर्षक से खबर छापी। इस खबर में गांव के लोगों के हवाले से कहा गया है कि गांव में पहला पटाखा विराट कोहली के आउट होने या हार्दिक पांड्या के रन आउट होने में फोड़ा गया ये किसी को नहीं मालूम। किसी ने भी पटाखों की आवाज व पाकिस्तान के समर्थन में लगने वाले नारों की आवाज नहीं सुनी, यहां तक कि शिकायतकर्ता सुभाष कोली ने भी। पहली बार किसी अखबार ने विस्तार से सुभाष कोली के बयान को छापा है। जिसमें सुभाष ने यह कहा है कि मैंने पुलिस से कोई शिकायत नहीं की और मैं पुलिस स्टेशन अपने दोस्त की मदद करने के लिए गया था। पुलिस ने खुद से मुझे गवाह बना दिया। मैं बहुत डरा हुआ था कि पुलिस मुझे निशाना बनाएगी। खबर में विस्तार के साथ गांव की डेमोग्राफी को भी बताया है और यह भी कि यहां के जो मुसलमान हैं वो भील आदिवासी थे जो एक खास समय में आकर कन्वर्ट हुए। खबर में गांव के सामान्य लोगों के भी बयान लिए गए हैं, जिनके हवाले से ये कहा गया है कि इस घटना के बाद गांव के सांप्रदायिक सौहार्द को बिगाड़ने की कोशिश की गयी है। खबर में विस्तार के साथ आरोपियों के परिजनों से बात की गई है और उनके बयान दर्ज किए गए हैं।

23 जून 2017 को किसी अखबार में आने वाली यह पहली खबर थी जिसमें शिकायतकर्ता का बयान, आरोपियों के परिजनों के बयान व गांव के सामान्य लोगों के बयान भी दर्ज किए गए हैं और पुलिस के द्वारा गढ़ी गई कहानी पर भी सवाल उठाया गया है।

26 जून 2017 को एनडीटीवी.कॉम पर *बिना शिकायत ही दर्ज किया देशद्रोह का केस*[7] के शीर्षक से एक खबर लगाई। जिसमें 2 मिनट 55 सेकेंड का एक विडियो भी है। जिसमें सुभाष कोली पुलिस की कार्यप्रणाली पर सवाल खड़े करते दिखाई दे रहे हैं और पुलिस की इस पूरी कार्रवाई को झूठा बता रहे हैं।

Scroll.in ने मोहद गांव की घटना पर 4 स्टोरी अपनी वेबसाइट पर लगाई है। जिसमें दो स्टोरी 25 जून को, एक 28 जून को और एक 2 जुलाई को लगाई है। Scroll.in की पत्रकार मृदुला चारी ने इन लेखों में आरोपियों के परिजनों के बयान, सुभाष कोली का बयान और पुलिस का बयान भी शामिल किया है। इन चारों स्टोरी को देखने से आरएसएस, मध्य प्रदेश की सरकार व पुलिस के बीच के आपसी रिश्ते को आसानी से समझा जा सकता है। 2 जुलाई 2017 की स्टोरी राकेश दीक्षित और मृदुला चारी द्वारा लिखी गई *Burhanpur sedition case fits the larger pattern of MP police acting*

under prejudice and RSS pressure[8] के शीर्षक से छपी खबर में ये तथ्य खुलकर सामने आ जाता है। इस खबर में भोपाल में बैठे पुलिस के उच्च अधिकारियों के हवाले से ये कहा गया है कि टीआई पाठक को इसलिए सजा नहीं दी गई कि उन्होंने फर्जी केस गढ़ा है, बल्कि इसलिए दी गई कि उन्होंने सही शिकायतकर्ता का चुनाव नहीं किया। उनका ये गलत चुनाव ही पुलिस को महंगा पड़ा। इस खबर में विस्तार के साथ पुलिस की सांप्रदायिक भूमिका को रखा गया है। इसके साथ ही इस खबर में मध्य प्रदेश का पुलिस विभाग किस तरह से आरएसएस द्वारा संचालित हो रहा है, इसका भी जिक्र है।

इन सभी खबरों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि चौथे खंभे के अधिकांश हिस्से ने एक बार फिर से अपनी निष्पक्षता का परित्याग किया है। मीडिया के बड़े हिस्से के द्वारा न्यूनतम पत्रकारीय नैतिकता का भी पालन नहीं किया गया। पूरे तंत्र में व्याप्त सांप्रदायिकता का प्रतिबिंब हमें मीडिया में भी आसानी से दिख रहा है। पुलिस के द्वारा कही गयी बातें 'खबर' बन रही हैं। हिन्दुत्व की प्रचार सामाग्री 'खबर' बन रही है। अखबारों में छपी यह खबर, खबर नहीं बल्कि पुलिस की भाषा है, हिन्दुत्व की भाषा है। हिन्दू पुलिस की कार्यप्रणाली और मीडिया की भाषा में यह साम्य लोकतन्त्र के लिए अच्छा संकेत नहीं है और खबर को खबर कैसे बनाया जाये यह आज के समय की सबसे बड़ी चुनौती भी है।

■

**लेखक महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में स्त्री अध्ययन के प्रोफेसर हैं।*

संदर्भ

1. राजेन्द्र शर्मा के दो लेख 'वर्तमान संकट और हिन्दू बुद्धिजीवी' और 'इजारेदार हिन्दी पत्रकारिता का विपक्षी तेवर', जो क्रमशः सांचा, फरवरी 1988 और उद्भावना जुलाई-सितम्बर 1989 में प्रकाशित हुए।
2. वर्मा, आनंद स्वरूप, जवाबदेही नहीं होने के खतरे, जनमीडिया अंक-53, जून 2017
3. http://www.jagran.com/news/national-15-arrested-in-burhanpur-for-raising-pro-pak-slogans-16231001.html
4. http://zeenews.india.com/madhya-pradesh/15-arrested-in-mp-for-shouting-pro-pakistan-slogans-after-indias-champions-trophy-loss-charged-with-sedition-2016975.html
5. http://www.news18.com/newstopics/mohad-village.html
6. http://indianexpress.com/article/india/no-one-knows-who-cheered-pakistan-win-sedition-charge-dropped-4717788/
7. https://khabar.ndtv.com/video/show/news/without-complent-burhanpur-sedition-case-461240
8. https://scroll.in/article/842381/burhanpur-sedition-case-fits-the-larger-pattern-of-mp-police-acting-under-prejudice-and-rss-pressur

अन्य महत्वपूर्ण लिंक

- https://video.scroll.in/842036/video-why-residents-of-this-village-in-madhya-pradesh-are-having-to-prove-their-patriotism
- https://scroll.in/latest/841722/man-calls-mp-sedition-case-false-police-intimidates-him-into-hiding
- https://scroll.in/article/841647/i-was-scared-police-made-me-sign-false-report-against-15-muslims-for-celebrating-pakistani-win
- http://indianexpress.com/article/india/muslim-minors-held-for-shouting-pro-pakistan-slogans-after-champions-trophy-final-4715559/
- http://indianexpress.com/article/india/karnataka-sedition-case-fireworks-over-cricket-loss-or-hockey-win-4721980/
- http://www.dnaindia.com/india/report-mp-15-arrested-for-raising-pro-pak-slogans-bursting-crackers-after-pakistan-s-win-in-icc-champions-trophy-2478116
- https://www.outlookindia.com/newswire/story/champions-trophy-15-people-held-in-mp-for-shouting-pro-pakistan-slogans-charged-with-sedition/970970
- http://timesofindia.indiatimes.com/city/bengaluru/ct-2017-final-3-held-for-celebrating-pakistans-victory/articleshow/59227499.cms
- http://timesofindia.indiatimes.com/city/indore/burhanpur-police-drops-sedition-charge-on-youths-celebrating-paks-cricket-match-win/articleshow/59274558.cms
- http://timesofindia.indiatimes.com/india/19-arrested-for-cheering-pakistans-champions-trophy-victory/articleshow/59243368.cms

शिक्षित मुस्लिमों की उर्दू समाचार पत्रों में दिलचस्पी नहीं

शाहीन नजर*

उर्दू पढ़ने वाले ज्यादातर मुसलमान हैं लेकिन इनमें जो शिक्षित वर्ग है क्या उसकी दिलचस्पी उर्दू के समाचार पत्रों में है? उर्दू पत्रकारिता पर आधारित एक किताब यह महत्वपूर्ण सवाल उठाती है। 2010 में किताब के लेखक शाहिदुल इस्लाम ने पचास बुद्धिजीवी समझे जाने वाले मुसलमानों के बीच एक सर्वे किया। उनमें सिर्फ छह लोग ऐसे हैं जो कि उर्दू समाचार पत्रों के खरीदार हैं। चार ऐसे हैं जो कि कभी-कभी उर्दू समाचार पत्र खरीद लेते हैं। इस सर्वे में शामिल नौ लोग ऐसे हैं जो कि उर्दू समाचार पत्र पढ़ना चाहते हैं लेकिन उसको खरीदने के लिए खर्च नहीं करना चाहते हैं। इसके अलावा बाकी के लोगों की उर्दू समाचार पत्रों में कोई दिलचस्पी नहीं है और ये बात उन्होंने सर्वे में साफतौर पर कहीं। उनके मुताबिक उर्दू समाचार उनके समाचार पत्र पढ़ने की जरूरतों को पूरा नहीं करते हैं। सर्वे में शामिल पचास लोगों में कवि, लेखक, शिक्षक, वरिष्ठ आईएएस, आईपीएस, डॉक्टर, इंजीनियर और राजनीतिज्ञ है।

50 मुस्लिम शिक्षित लोगों के बीच सर्वे	
उर्दू समाचार पत्र खरीदने वाले	6
कभी-कभी उर्दू समाचार पत्र खरीदने वाले	4
समाचार पत्र पढ़ना चाहते हैं लेकिन खरीदकर नहीं	9
उर्दू समाचारपत्रों में दिलचस्पी नहीं	31
कुल	50

वे सभी अंग्रेजी के समाचार पत्रों को पढ़ने के आदि हैं। कुछ ऐसे भी थे जो कि हिन्दी के समाचार पत्रों को पढ़ते हैं। किताब में उल्लेखित एक अनुमान के मुताबिक मुस्लिम बाहुल्य इलाके में हिन्दी और अंग्रेजी के समाचार पत्रों की खपत उर्दू समाचार पत्रों की तुलना में पचास गुना ज्यादा है।

इन हालात से निपटने के लिए उर्दू समाचार पत्र के मालिक या प्रकाशकों ने एक नई नीति अपनाई। उर्दू समाचार पत्र जिन्होंने देश के विभाजन के बाद ही 'इस्लाम कबूल' कर लिया था, वे और 'ज्यादा मुसलमान' हो गए, ये कहना है दिल्ली में समकालीन उर्दू पत्रकारिता नामक किताब (देहली में असरी उर्दू सहाफतः तस्वीर का दूसरा रुख) का।

उर्दू समाचार पत्रों ने धार्मिक ग्रुप को अपने करीब लाने के प्रयास शुरू कर दिए। राष्ट्रीय मीडिया मुस्लिम संगठनों और उनके नेताओं को न केवल अक्सर नजरअंदाज करता था बल्कि उनके बारे में नकारात्मक सामग्री देता था, उन्हें उर्दू समाचार पत्रों में प्रमुखता से जगह मिलने लगी। यही नहीं उर्दू के समाचार पत्रों ने उन हालात को भी भुनाया जिसमें आम मुसलमानों के बीच एक डर और भय का मनोविज्ञान तैयार किया जा रहा था। इसके लिए सकारात्मक सामग्री की तलाश करने के बजाय उर्दू समाचार पत्रों ने सनसनीखेज सामग्री को अपनी पहचान का हिस्सा बना लिया। हिन्दुत्ववादी संगठन राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की ओर से आने वाले बयानों व सरकार द्वारा कई मामलों में कार्रवाई करने और नहीं करने की हालात उर्दू समाचार पत्रों की ज़ीनत बनने लगी। इस नीति की वजह से उर्दू समाचार पत्रों को एक खास तरह

उर्दू के समाचार पत्रों द्वारा 2015 में अपनी प्रसार संख्या के दावे

अखबार	प्रसार संख्या	अखबार	प्रसार संख्या	अखबार	प्रसार संख्या
1. हिन्द सागर	15,100	30. आवाम-ए-हिन्द	54,266	58. मेरी मंज़िल	35,000
2. जदीद इन दिनों	75,000	31. सियासतनामा	51,500	59. डे-ब्रेक उर्दू	28,500
3. प्रताप	74,338	32. क़ौमी समाचार	48,998	60. जदीद मेल	27,960
4. हालात-ए-वतन	72,680	33. आवाम	48,983	61. मेहनतकश आवाम	27,456
5. हमारा समाज	71,245	34. क़ौमी आगाज	48,849	62. शाम-ए-हिन्द	27,125
6. हालात-ए-हिन्द	68,950	35. साएबान	47,900	63. तेज	26,905,
7. हमारा मक़सद	68,414	36. अंदलीब	47,746	64. जदीद अमल	26350
8. हिन्दुस्तान एक्सप्रेस	67,011	37. क़ौमी रहबर	47,483	65. क़ौमी रफ्तार	26,140
9. अखबार-ए-मशरिक़	67,003	38. सियासी तंज़ीम	47,000	66. ख़बर हरदम	25,500
10. एकदम	66,417	39. अल-यौम	46,904	67. सियासत की जंग	25,500
11. आफताब-ए-हिन्द	66,374	40. दौ़र-ए-जदीद	46,742	68. पैग़ाम-ए-आलम	25,150
12. हिन्द न्यूज	66,100	41. क़ौमी जौहर	46,525	69. सुबह-ए-इनक़लाब	25,100
13. सफ़ा टाइम्स	66,003	42. मिलाप	46,447	70. बुनियादी तंज़ीम	25,000
14. राष्ट्रीय सहारा	65,517	43. सालार-ए-हिन्द	45,750	71. लोकतंत्र	25,000
15. ज़दीद ख़बर	65,257	44. दिल्ली मेरी जान	45,654	72. सर्वहारा टाइम्स	25,000
16. शहर आज़ाद	65,000	45. जदीद रास्ता	45,650	73. सियासी खबर	23,004
17. सियासी उफ़क़	60,247	46. जलते चिराग	45,650	74. अल-रहमान	22,226
18. मशरिक़ी आवाज़	59,550	47. राबिता टाइम्स	45,625	75. जम्हूरियत टाइम्स	22,200
19. हाल-ए-वतन	58,725	48. इन्क़लाब-ए-हिन्द	45,000	76. पैग़ाम-ए-मादर-ए-वतन	21,500
20. सदा-ए-वतन	57,309	49. काएनात-ए-जदीद	41,300	77. रहबर-ए-इंडिया	19,183
21. उर्दू नेट	56,652	50. क़ौमी दुनिया	40,000	78. सियासी पैग़ाम	17,577
22. राष्ट्रवादी टाइम्स	56,130	51. जसारत-ए-जदीद	38,575	79. रोजनामा खबरें	17,028
23. सहाफ़त	55,947	52. सेकुलर कयादत	37,743	80. आई.एन.एस इंडिया	16,400
24. फारूक़ी तंज़ीम	55,175	53. सुल्तान समाचार	36,200	81. रफ़्तार-ए-वक्त	15,350
25. अल-मोमिन	55,001	54. सेकुलर तंजीम	35,375	82. कल की सियासत	15,135
26. आज़ाद मामा	55,000	55. नादिया टाइम्स	35,250	83. क़ौमी मेल	15,100
27. मिज़ाईल एक्सप्रेस	55,000	56. क़ौमी सलामती	35,250	84. हमारी दुनिया	6,800
28. सियासी तकदीर	55,000	57. कारवान-ए-देहली	35,000	85. क़ौमी भारत	5,715
29. जुहैर टाइम्स	55,000	*स्रोतः 'देहली में असरी उर्दू सहाफतः तस्वीर का दूसरा रुख'*			

के ठोस पाठक तो मिल गए लेकिन उर्दू पत्रकारिता की पहचान गुम होती चली गई। यह पहचान उर्दू पत्रकारिता के प्रगतिशील होने, स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान की क्रांतिकारी विरासत, समाज में क्रांतिकारी सुधार की पक्षधर होने की रही है। ये सारी पहचान बर्बाद होकर रह गई और धार्मिक मसलों के इर्द-गिर्द सिमटकर रह गई।

उर्दू समाचार पत्रों में जो पत्रकार दिखते हैं, उनमें अधिकतर अर्धशिक्षित और अप्रशिक्षित होते हैं। ये वे लोग होते हैं जो कि अपनी पढ़ाई पूरी करने के बाद भी बेरोजगारी की हालत में पत्रकारिता के पेशे को अपना लेते हैं। सिसायत, इंकलाब और राष्ट्रीय सहारा जैसे बड़े अखबारों को छोड़कर लगभग बाकी उर्दू समाचार पत्रों के मालिक व प्रकाशक छोटे मोटे व्यापारी या राजनीतिज्ञ होते हैं। वे समाचार पत्रों को निकालने के पीछे अपने व्यापार में तरक्की का रास्ता देखते हैं या फिर राजनीति में सफल होने की गुंजाइश देखते हैं। ज्यादातर मालिक व प्रकाशक खुद ही संपादक भी होते हैं। ये वही जमात है जिनके सदस्यों को कांग्रेस व दूसरी धर्म निरपेक्ष कही जाने वाली पार्टियां व उनकी सरकारें राज्यसभा व विधान परिषद जैसे संस्थाओं में बतौर मुस्लिम प्रतिनिधि भेजते हैं। इस तरह के समाचार पत्रों में या तो मदरसों से निकले छात्र होते हैं या फिर उर्दू माध्यम से चलने वाले संस्थानों से निकले छात्र होते हैं या फिर स्कूल और कॉलेज की पढ़ाई को बीच में छोड़ देने के लिए मजबूर छात्र होते हैं।

इस किताब के अनुसार दिल्ली से 85 उर्दू के समाचार पत्र निकलते हैं। जिनमें इंक़लाब और राष्ट्रीय सहारा ही सही मायने में पढ़े जाते हैं। बाकी ज्यादातर समाचार पत्र सरकारी विज्ञापनों के मोहताज हैं जो कि केवल रिकार्ड में रखने के लिए छपते हैं। उनकी कॉपियां सरकारी दफ्तरों व विभागों में इसीलिए भेजी जाती हैं ताकि उन्हें भारत सरकार की प्रचार करने वाली संस्था डीएवीपी का विज्ञापन मिल सके। इन 85 समाचार पत्रों में 30 समाचार पत्रों का दावा है कि उनकी प्रसार संख्या 50 हजार से 75 हजार के बीच है। 27 समाचार पत्रों का दावा है कि उनकी प्रसार संख्या 30 हजार से 50 हजार के बीच है। 18 समाचार पत्रों का दावा है कि उनकी प्रसार संख्या 30 हजार से 20 हजार के बीच है। 8 समाचारों ने अपनी प्रसार संख्या 10 हजार से 20 हजार के बीच जाहिर की है। केवल दो समाचार पत्रों ने दावा किया है कि उनकी प्रसार संख्या महज 5 हजार से दस हजार के बीच है।

दिल्ली के मुस्लिम बाहुल्य इलाके ओखला एवं फतेहपुरी में समाचार पत्रों के वितरण केन्द्रों पर उर्दू के समाचार पत्रों की प्रसार संख्या (अगस्त 2015)

क्रमांक	ओखला	फतेहपुरी
1. राष्ट्रीय सहारा	1,600	1,200
2. इंकलाब	2,400	1,800
3. रोजाना खबरें	260	130
4. अखबार-ए-मशरिक़	120	100
5. हमारा समाज	50	50
6. हिन्दुस्तान एक्सप्रेस	75	50
7. सहाफत	150	90
8. जदीद खबर	50	50
9. सियासी तकदीर	50	50
कुल	4,755	3,520

स्रोतः 'देहली में असरी उर्दू सहाफतः तस्वीर का दूसरा रुख'

लेकिन किताब के लेखक ने इन दावों के आलोक में जब बाजार में इन समाचार पत्रों की उपलब्धता जानने के लिए एक सर्वे किया तो एक दूसरा दिलचस्प आंकड़ा सामने आता है। बाजार में ये पाया गया कि पचासी समाचार पत्रों में से केवल नौ समाचार पत्र ही बाजार में बिक्री के लिए उपलब्ध हैं। यह सर्वे दिल्ली के 75 वितरण केन्द्रों पर किया गया और वहां ये तथ्य निकलकर सामने आया कि नौ समाचार पत्रों के अलावा बाकी के सभी समाचार पत्रों की बाजार में उपलब्धता नहीं है। किताब के लेखक ने अपने इस सर्वे के आधार पर समाचार पत्रों द्वारा प्रसार संख्या के दावे को सही नहीं माना है।

इस सर्वे में ये तथ्य भी निकलकर सामने आया है कि जिन नौ समाचार पत्रों की बाजार में उपलब्धता पाई गई उनमें से सात के पास वितरण के

लिए अपना कोई स्थायी ढांचा नहीं है। केवल दो समाचार पत्रों इंकलाब और राष्ट्रीय सहारा के पास ही अपने पत्रों के वितरण के लिए स्थायी ढांचा है। बाकी के सातों समाचार पत्रों की निर्भरता पूरी तरह से वितरण एजेंसियों पर हैं। ये समाचार पत्र अपने पत्रों की बिक्री के लिए अपनी गाड़ी व स्टाफ रखने की हालत में नहीं है।

दिल्ली में दो इलाकों को मुस्लिम बाहुल्य माना जाता है। वे ओखला और फतेहपुरी है। किताब के लेखक शाहिदुल इस्लाम ने 'बंद पड़े कौमी आवाज के कर्मचारियों की मदद से' 2015 में एक सर्वे किया। उस सर्वे का मकसद ये जानना था कि इन दोनों इलाकों के वितरण केन्द्रों पर उर्दू के कितने समाचार पत्र पहुंचते हैं। अगस्त 2015 में अलग-अलग तरीखों में इन इलाकों में समाचार पत्रों के वितरण केन्द्रों का सर्वे किया गया। उन केन्द्रों से ये आंकड़े हासिल हुए कि उर्दू के किन समाचार पत्रों की बिक्री कितनी होती है। इन आंकड़ों को जमा करने के लिए कोई मानक पद्धति तो नहीं अपनाई गई लेकिन इन आंकड़ों से पूरी तस्वीर का एक अंदाजा मिलता है। इसके मुताबिक ओखला में इन समाचार पत्रों की कुल खपत पांच हजार से भी कम थी। फतेहपुरी में तो इससे भी कम केवल चार हजार थी। ये हाल जब दिल्ली के मुस्लिम बाहुल्य इलाके का है तो बाकी के इलाकों में उर्दू के समाचार पत्रों का हाल समझा जा सकता है। विदित है कि ओखला के इलाके में ही जामिया मिल्लिया इस्लामिया, शाहिन बाग, अबुल फजल इनक्लेव, बटला हाउस, ज़ाकिर नगर, जसोला विहार, इत्यादि आते हैं

भारत में उर्दू के अखबार

भारत के उत्तर में उर्दू के प्रमुख केंद्र दिल्ली, लखनऊ, पटना और कोलकाता और पश्चिम व दक्षिण के क्रमशः मुम्बई, हैदराबाद और बेंगलुरु हैं। इन केंद्रों से उर्दू के दर्जनों अखबार प्रकाशित होते हैं। ये सभी अखबार ऑनलाइन भी उपलब्ध हैं। मार्च 2015 में जारी आंकड़ों के अनुसार, भारत के समाचारपत्रों के पंजीयक (आरएनआई) के यहां 4,770 उर्दू के पत्र-पत्रिकाएं पंजीकृत हैं, जो कि हिंदी और अंग्रेजी के बाद तीसरे नंबर पर है। मगर प्रसार संख्या के मामले में उर्दू अखबार हिंदी, अंग्रेजी और अन्य दूसरी प्रमुख भाषाओं जैसे बांग्ला, मलयालम, तमिल, मराठी और गुजराती अखबारों के आस-पास भी नहीं है।

उर्दू समाचार पत्रों को पारंपरिक तौर पर कांग्रेस का समर्थक माना जाता रहा है, लेकिन इसके साथ ये एक तथ्य जुड़ा है कि कांग्रेस हिंदी भाषी इलाकों में अप्रसांगिक होती चली गई है। दूसरी तरफ उर्दू समाचार पत्र 'धर्मनिरपेक्ष ताकतों' के साथ खड़े दिखने लगे हैं और 'सांप्रदायिक ताकतों' का जोरदार विरोध करते दिखते हैं।

इंकलाब और राष्ट्रीय सहारा राष्ट्रीय स्तर पर प्रमुख उर्दू दैनिक समाचार पत्रों के रूप में उभरे हैं। सहारा के लखनऊ, कानपुर, गोरखपुर, पटना, रांची और कोलकाता से संस्करण निकलते हैं जबकि दूसरी तरफ उसने मुम्बई, हैदराबाद और बेंगलुरु में भी अपने संस्करण शुरू किए हैं। ठीक इसी तरह से, मुंबई में 75 साल का इंकलाब उर्दू का प्रमुख अखबार है। 2010 में जागरण प्रकाशन ने उसको खरीद लिया और महज दो सालों में पूरे उत्तर भारत उसको फैला दिया। आज यह 14 केंद्रों से प्रकाशित होता है जिनमें दिल्ली, लखनऊ, पटना और कोलकाता भी शामिल हैं।

हैदराबाद एक ऐसा केंद्र है जहां उर्दू समाचारपत्र के पाठकों की काफी संख्या है। सियासत एक पुराना और लोकप्रिय समाचारपत्र है। खाड़ी देशों में खासकर, साऊदी अरब में हैदराबादियों की मजबूत मौजूदगी है।

कोलकाता के प्रमुख उर्दू दैनिक राष्ट्रीय सहारा, अखबार-ए-मशरिक़ और आबशार हैं। पिछले कुछ सालों पहले, आजाद हिंद कोलकाता का प्रमुख उर्दू अखबार था, जो अब बंद हो गया। बेंगलुरु का सबसे पुराना अखबार सालार है जबकि राष्ट्रीय सहारा का यहां नया उदय हुआ है।

दिल्ली से प्रकाशित होने वाले अखबारों में बिहार को काफी कवरेज दिया जाता है क्योंकि उर्दू के पाठकों में बिहार के लोग शामिल होते हैं। यहां तक कि दिल्ली के समाचार पत्रों में पत्रकारों और गैर पत्रकार कामगारों में भी ज्यादातर बिहार से ही हैं।

उर्दू समाचारपत्रों को सामान्यतः निम्न मध्यम वर्ग मुस्लिम, बुजुर्ग लोग, महिलाएं, मदरसों की पृष्ठभूमि के छात्र और समुदाय द्वारा चलाए जाने वाले स्कूलों के छात्र पढ़ते हैं। हिंदी समाचारपत्रों के संपादकों द्वारा जिस समुदायों से जुड़ी खबरों को नकारा जाता है, या समुदाय को ज्यादातर कवरेज नहीं दी जाती या नकारात्मक कवरेज दी जाती है, उस हालत को नजरअंदाज करते हुए अच्छी खासी संख्या में मुसलमान हिंदी समाचारपत्रों को पढ़ते हैं। उच्च मध्यम वर्ग मुस्लिम सामान्यतः अंग्रेजी समाचारपत्रों को पढ़ता है। उनके लिए उर्दू अखबार दूसरे नंबर पर आता है। उर्दू समाचारपत्रों में दक्षता का अभाव दिखता है। उर्दू समाचारपत्र सामान्यतयः कम वेतन के कारण काबिल और प्रशिक्षित पत्रकार नहीं रख पाते।

जबकि फतेहपुरी का वितरण केंद्र जामा मस्जिद के साथ-साथ पुरानी दिल्ली के पूरे इलाके को समेटता है। दिल्ली का तीसरा मुस्लिम बाहुल्य इलाका निजामुद्दीन को माना जाता है। यहां हजरत निजामुद्दीन की दरगाह है और तबलिगी जमात का दफ्तर भी है। यहां साल भर तीर्थ यात्री और तबलिगी जमात के कार्यकर्ता आते हैं। इनमें से ज्यादातर की ज़बान उर्दू होती है। कायदे से यहां उर्दू समाचार पत्र की खपत ज्यादा होनी चाहिए क्योंकि चारों तरफ उर्दू बोलने वाले लोग ही बसते हैं। लेकिन 2010 में किए गए ऐसे ही एक सर्वे में ये सामने आया कि यहां पर उर्दू समाचार पत्रों की पांच सौ कॉपियां भी नहीं बिकती हैं।

इन सारे आंकड़ों के बावजूद ये निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि उर्दू अखबार निकालना घाटे का सौदा है। वरना दैनिक जागरण और सहारा इंडिया जैसे बड़े मीडिया समूह इस मैदान में नहीं कूदते। इन सब विवरणों का सबसे गंदा पक्ष ये है कि इन बड़े मीडिया समूहों की मौजूदगी ने माहौल को और भी बिगाड़ा है। इन दोनों ने भी साम्प्रदायिकता का ऐसा नाकाब ग्रहण किया है जिससे कि दोगलेपन की एक नई मिसाल कायम होती है। दोनों ही समूह हिन्दी के भी समाचार पत्र छापते हैं। हिन्दी में ये हिन्दुत्व के पक्षधर हैं और उर्दू में ये मुसलमानों के पक्षधर दिखने की हरसंभव कोशिश करते हैं। इनके हिन्दी के समाचार पत्रों में मुसलमानों को या तो नजरअंदाज किया जाता है या फिर मुसलमानों की नकारात्मक छवि पेश की जाती है। जबकि उर्दू में ये मुसलमानों के सबसे बड़े हिमायती हैं। इस दोगली नीति को अपनाकर देखते ही देखते ये उर्दू के सबसे बड़े समाचार पत्र बन गए हैं। सहारा उर्दू 2004 में छपना शुरू हुआ था और इस समय उत्तर और दक्षिण के नौ शहरों से निकलता है। इंकलाब, जो कि बंबई का सबसे ज्यादा बिकने वाला और प्रतिष्ठित अखबार था, 2010 में उसे दैनिक जागरण ग्रुप ने खरीद लिया और दो साल में जागरण ने इसे पूरे उत्तर भारत में फैला दिया। दिल्ली से लेकर पटना तक एक दर्जन शहरों से ये प्रकाशित होता है। उर्दू के अन्य समाचार पत्रों के विपरीत इंकलाब और सहारा डीएवीपी के विज्ञापनों के पीछे नहीं भागते। क्योंकि प्राइवेट कंपनियों, व्यक्तियों व संस्थाओं के विज्ञापन इनके लिए पर्याप्त और लाभदायक है। इनमें छपने वाले विज्ञापनों का भी अलग से अध्ययन हो सकता है क्योंकि ये एक खास मानसिकता को दर्शाते हैं।

ये किताब उर्दू पत्रकारिता के भीतर वर्षों से सक्रिय रहने वाले एक पत्रकार शाहिदुल इस्लाम का श्रमसाध्य शोध है। उन्होंने अपनी इस पुस्तक में उर्दू पत्रकारिता के विविध आयामों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। लेकिन उर्दू पत्रकारिता को लेकर निराशा का भाव पैदा करने वाले आंकड़ों की मौजूदगी के बावजूद वे इस बात को लेकर बेहद उत्साहित हैं कि उर्दू पत्रकारिता के गौरव व प्रतिष्ठा को हासिल किया जा सकता है। इसके लिए केवल बेईमान लोगों को बेनकाब करने की जरूरत हैं। ये किताब इसी दिशा में एक कोशिश मालूम होती है।

■

***शाहीन नजर**, अरब न्यूज और खाड़ी क्षेत्र के दो अन्य अंग्रेजी समाचार पत्रों के संपादकीय विभाग से जुड़े रहे हैं।*

जन मीडिया/ मास मीडिया के सदस्य बनें

संचार के क्षेत्र में भारतीय भाषाओं में शोध संस्कृति के विकास के लिए जन मीडिया/मास मीडिया पहला प्रयास है, जिसका उद्देश्य 'हमारा समाज, हमारा शोध' है। इस पत्रिका को अपने बूते खड़ा करने के लिए पाठकों से अपील है कि वह इसकी वार्षिक व आजीवन सदस्यता लें। अपने मित्रों, संबंधियों, परिचितों को पत्रिका का सदस्य बनने के लिए प्रेरित करें। सदस्यता के लिए आप सदस्यता फार्म भरकर जन मीडिया/मास मीडिया कार्यालय के पते पर भेज सकते हैं। सदस्यता शुल्क का भुगतान चेक/ड्रॉफ्ट के जरिए **'जन मीडिया'** के नाम स्वीकार्य होगा। सदस्यता के लिए आप अपना नाम, पता व फोन नंबर को पोस्टकॉर्ड या ई-मेल के जरिए या एसएमएस के जरिए जन मीडिया/मास मीडिया के फोन नंबर या ई-मेल पर भेज सकते हैं। सदस्यता शुल्क को सीधे **'जन मीडिया'** के बैंक अकाउंट संख्या-21360200000710, बैंक ऑफ बड़ौदा, बादली शाखा, दिल्ली, (IFSC Code - BARB0TRDBAD) के खाते में भी जमा कराया जा सकता है। ऑनलाइन सदस्यता के लिए हमारी वेबसाइट **www.mediastudiesgroup.org.in** में **Subscriptions** पर क्लिक करें।

वार्षिक सदस्यता (व्यक्तिगत)	: ₹240
वार्षिक सदस्यता (संस्थागत)	: ₹500
सदस्यता दो वर्ष (व्यक्तिगत)	: ₹450
सदस्यता दो वर्ष (संस्थागत)	: ₹1000
सदस्यता पांच वर्ष (व्यक्तिगत)	: ₹1100
सदस्यता पांच वर्ष (संस्थागत)	: ₹2500
आजीवन सदस्यता (व्यक्तिगत)	: ₹3000
आजीवन सदस्यता (संस्थागत)	: ₹10000

दिल्ली से बाहर के चैकों के लिए ₹ 50 और जोड़कर भेजें।

संपर्क

ए-4/5, रोहिणी, सेक्टर-18, दिल्ली-110085

मो. 9968771426, 9910638355

Email : subscribe.journal@gmail.com

गांधी की पत्रकारिता का दलित संदर्भ

कृपाशंकर चौबे*

भारत में जाति भेद का संदर्भ आते ही सबसे पहले ऋग्वेद का वह उद्धरण याद आता है: *''ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू सदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।''* यानी ब्राह्मण की उत्पत्ति प्रजापति के मुख से, क्षत्रिय की भुजाओं से, वैश्य की जांघों से और शूद्रों की पैरों से हुई थी। ऋग्वेद के बाद गीता का संदर्भ याद आता है: *''चातुर्वर्ण् यं मयां सृष्टं गुणकर्मविभागशः''* गीता में भगवान कृष्ण स्वयं कहते हैं कि गुण-कर्म विभाग के अनुसार चारों वर्णों की सृष्टि उन्होंने ही की है। गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर के समकालीन विद्वान क्षिति मोहन सेन ने लिखा है कि श्रीकृष्ण ने जिस तरह चातुर्वण्य का निर्देश किया था, अगर वह प्रचलित होता तो भारतीय जाति व्यवस्था से हमारा शायद उपकार ही होता। उस हालत में समाज में एक गति और स्पंदन दिखाई पड़ता। मनु ने भी कहा है कि अवसर विशेष पर ब्राह्मण शूद्र हो जाता है और शूद्र ब्राह्मण हो जाता है। परंतु ये व्यवस्थाएं और विधियां इस देश में धीरे-धीरे अचल हो उठीं। संस्कृत के काव्य, पुराण, नाटक आदि में हीनवृत्ति ब्राह्मण और उच्च वृत्त शूद्र की कम चर्चा नहीं है। चरित्र और शील में कभी-कभी शूद्रों को ब्राह्मणों से भी अधिक उन्नत पाया गया है।[1] क्षिति मोहन सेन की इसी धारणा को महात्मा गांधी ने स्वीकार किया। उन्होंने अस्पृश्यता का तो प्रतिरोध किया किंतु वर्ण व्यवस्था का समर्थन किया।

वर्ण व्यवस्था गांधी के पहले जिस तरह थी, उनके बाद भी उसी तरह कायम रही। वर्ण व्यवस्था बहुत पुरानी है किंतु उसके प्रतिरोध की परंपरा भी कम पुरानी नहीं है। ज्ञात इतिहास में जाति प्रथा को सबसे पहली चुनौती गौतम बुद्ध ने दी थी। उन्होंने भिक्षु संघ की स्थापना की, जिसमें जाति संबंधी किसी भी प्रकार का पक्षपात नहीं था। गौतम बुद्ध ने भिक्षु संघ में सभी जाति-वर्ग के लोगों को प्रवेश देकर बराबरी का संदेश दिया था। बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग, अश्वघोष, धर्मकीर्ति और नागार्जुन ब्राह्मण होते हुए भी वर्ण व्यवस्था का प्रतिरोध करते हैं और बौद्ध चिंतन की परंपरा को आगे बढ़ाते हैं। सिद्धों-नाथों की परंपरा में सरहपाद और गोरखनाथ और निर्गुण धारा के संतों में कबीर-रैदास वर्ण व्यवस्था का प्रतिरोध करते हैं। छह सौ साल पहले हुए कबीर ने जातिभेद पर कड़े प्रहार किये। उन्होंने कहा: ''जो तू बाभन बभनी जाया, आन राह तै क्यों नहीं आया।'' कबीर ने यह भी कहा, ''जाति पाति पूछे नहि कोय, हरि को भजै सो हरि का होय।'' उसके बाद स्वामी दयानंद सरस्वती (1824-1883) ने वर्ण व्यवस्था का प्रतिरोध करते हुए कहा था, ''जो शास्त्र और पुराण शूद्रों को वेदों का अध्ययन करने से रोकते हैं, वे कुंए में फेंक दिये जाने चाहिए।'' स्वामी दयानंद सरस्वती के समकालीन ज्योतिबा फुले (1827-1890) ने तो जातिभेद का प्रतिरोध करने के लिए सत्यशोधक समाज की स्थापना की। उनकी पत्नी सावित्री बाई फुले को लड़कियों को पढ़ाने के लिए ब्राह्मणों के तीव्र विरोध को झेलना पड़ा। उसी की अगली कड़ी बीसवीं शताब्दी में तीन बड़े नायकों-महात्मा गांधी, बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर और राममनोहर लोहिया से जुड़ती है। ये तीनों नायक जाति-प्रथा से टकराते हैं। जाति प्रथा को लेकर गांधी और अम्बेडकर आपस में भी टकराते हैं। गांधी और

अंबेडकर में आरंभ में जितना विरोध था, वह आखिरी दिनों में बहुत घट गया था। दोनों नायकों ने एक-दूसरे को बदलने में बहुत हद तक सफलता पाई थी।

दलितों के सवाल पर गांधी को अम्बेडकर के विरुद्ध चाहे जितना भी खड़ा किया जाए, गांधी हरिजनों का उद्धार चाहते थे, इससे कोई भी इंकार नहीं कर सकता। हरिजन सेवक संघ की स्थापना और उसके बैनर तले सेवा कार्यों से लेकर 'हरिजन' का प्रकाशन इसका प्रमाण है। यह इतिहास स्वीकृत तथ्य है कि 4 फरवरी 1932 को 'यंग इंडिया' और 'नवजीवन' के बंद होने के उपरांत गांधी जी ने हरिजनों के उद्धार के लिए ही 'हरिजन' नामक अंग्रेजी साप्ताहिक समाचार पत्र निकाला। देशभर में उन्होंने हरिजन सेवक संघ की शाखाएं बनाईं। संघ की अछूतोद्धार संबंधी साप्ताहिक गतिविधियों की जानकारी 'हरिजन' के हर अंक में दी जाती थी। 11 फरवरी 1933 को निकले 'हरिजन' के प्रवेशांक के संपादकीय में ही गांधी जी ने 'अस्पृश्यता' शीर्षक से संपादकीय लिखा और उसमें साफ-साफ कहा कि जातीय छूआछूत शास्त्रों के खिलाफ है। प्रवेशांक में ही गांधी ने सात पंडितों के हस्ताक्षर का एक पत्र प्रकाशित किया जिसमें कहा गया था कि चारों वर्णों में जो समान अधिकार हैं, उनका अधिकार हरिजन को मिलना चाहिए। ये अधिकार हैं-मंदिर प्रवेश, शालाओं में शिक्षा, सार्वजनिक कुओं, घाटों, तालाबों और नदियों में निस्तार सुविधा। गांधी जी ने 'हरिजन' के प्रवेशांक के लिए बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर से संदेश भेजने को कहा तो उत्तर में अम्बेडकर ने सात फरवरी 1933 को लिखे पत्र के रूप में संदेश की जगह टिप्पणी भेजी। उसमें उन्होंने कहा, ''दलित वर्ग वर्ण व्यवस्था का प्रति उत्पाद है और जब तक वर्ण व्यवस्था रहेगी, दलित वर्ग बने रहेंगे। इसलिए जाति प्रथा की समाप्ति ही दलितों के लिए एकमेव स्वीकार्य बात है और आनेवाले संघर्ष में यही तत्व हिंदुओं की रक्षा करेगा और उनके अस्तित्व को सुनिश्चित करेगा।'' 'हरिजन' में सभी राज्यों में हरिजन उत्थान के लिए किए गए कार्यों का विवरण छपता था। 'हरिजन' के आरंभिक अंकों को देखने से ज्ञात होता है कि प्रथम हरिजन दिवस 18 दिसंबर 1932 को मनाया गया था किंतु उस दिन किए गए कार्यों से गांधी जी संतुष्ट नहीं थे। द्वितीय हरिजन दिवस अप्रैल 1933 के अंतिम रविवार को मनाया गया। उसके लिए उन्होंने छह कार्यक्रम घोषित किए थेः 1. हरिजन दिवस प्रातः पांच बजे प्रार्थनाओं से प्रारंभ हो और हरिजनों के लिए कुछ राशि, कपड़े और अनाज अलग निकालकर जरूरतमंदों को दिया जाए। जो गरीब हैं और ऐसा करने में असमर्थ हैं, उन्हें उपवास रखना चाहिए चाहे एक समय का ही क्यों न हो। 2. भंगियों का काम स्वयं किया जाए या उनके कार्य में हाथ बंटाया जाए। 3. घर-घर जाकर राशि या सामग्री दान स्वरूप प्राप्त की जाए। इसके बाद हरिजन बस्तियों में जाकर उनके घरों की सफाई की जाए। 4. हरिजनों की बैठक लेकर उनकी जरूरतों की जानकारी प्राप्त की जाए। 5. हरिजनों और सवर्णों की संयुक्त बैठकें आयोजित कर अछूतोद्धार के कार्यों संबंधी प्रस्ताव भी पारित किए जाएं। 6. जहां जनमत का समर्थन हो, वहां हरिजनों को सार्वजनिक कुओं से पानी लेने दिया जाए और निजी मंदिर हरिजनों के लिए खोल दिए जाएं। इन सबके बाद इस दिन किए गए सभी कार्यों की रिपोर्ट प्रकाशनार्थ 'हरिजन' को भेजी जाए। द्वितीय हरिजन दिवस देशभर में मनाए जाने की रिपोर्ट 'हरिजन' के अंकों में छापी गई। द्वितीय हरिजन दिवस मनाने के बाद भी गांधी जी इस बात को लेकर दुःखी थे कि उस दिवस को सभी देशवासियों का समर्थन नहीं मिला। इसी सवाल पर उन्होंने 8 मई से 29 मई 1933 तक 21 दिनों का अनशन किया। अपने अनशन के नतीजों पर संतोष जताते हुए गांधी जी ने 8 जुलाई 1933 के 'हरिजन' में संपादकीय लिखा, ''अपने पाठकों को मुझे यह सूचित करते हुए खुशी हो रही है कि मेरे अनशन से हरिजन भी उद्वेलित हुए हैं।''

गांधी जी की दलित चिंता की पुष्टि अपना मैला साफ करने से लेकर अगले जन्म में हरिजन महिला के रूप में पैदा होने की उनकी इच्छा से भी होती है। गांधी ने 'यंग इंडिया' में लिखा था, ''मैं फिर से जन्म नहीं लेना चाहता लेकिन मेरा पुनर्जन्म हो तो मैं अछूत पैदा होना चाहूंगा ताकि मैं उनके दुःखों, कष्टों और अपमानों का भागीदार बनकर स्वयं को और उन्हें इस दयनीय स्थिति से छुटकारा दिलाने का प्रयास कर सकूं। इसलिए मेरी प्रार्थना है कि यदि मेरा पुनर्जन्म हो तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र में न हो, बल्कि अतिशूद्र में हो।''[2] छूआछूत उन्मूलन के लिए गांधी अपनी पत्नी तक को छोड़ने पर भी विचार करने से नहीं हिचकते। 'यंग इंडिया' में उन्होंने लिखा था, ''अपनी पत्नी के साथ बंधन में बंधने से बहुत पहले ही मैं छूआछूत उन्मूलन के कार्य के साथ बंध गया था। हमारे संयुक्त जीवन में दो ऐसे अवसर आए जब अछूतोद्धार और पत्नी के साथ रहने के

बीच एक चीज को चुनना था और मैं अछूतोद्धार को ही चुनता। लेकिन मैं अपनी पत्नी का आभारी हूं जिसने संकट को टाल दिया। मेरे आश्रम में, जो मेरा परिवार है, कई अछूत हैं और एक प्यारी नटखट लड़की तो मेरी अपनी बेटी की तरह ही रहती है।[3] गांधी लिखते हैं, ''लोगों के प्रति प्रेम में छूताछूत की समस्या मेरे बाल्यकाल में ही उठा दी थी। मेरी मां ने कहा, इस बच्चे को मत छूना यह अछूत है। 'क्यों न छूऊं?' मैंने पटलकर पूछा और उसी दिन से मेरा विद्रोह आरंभ हो गया।[4] गांधी ने जिस स्वराज्य के लिए लंबा संघर्ष किया, उसे भी छूआछूत रहने पर वे बेकार मानते हैं। 'यंग इंडिया' में उन्होंने लिखा था, ''यदि हम भारत की जनसंख्या के पांचवें हिस्से को सदा के लिए पराधीन रखना चाहें और उन्हें राष्ट्रीय संस्कृति की उपलब्धियों से जान-बूझकर वंचित रखें, तो स्वराज्य बेकार है। हम इस महान शुद्धि आंदोलन में भगवान की सहायता चाहते हैं, लेकिन उसकी सृष्टि के सर्वाधिक सुपात्र प्राणियों को मानवता के अधिकार देना नहीं चाहते। यहि हम स्वयं अमानवीय हैं तो दूसरों की अमानवीयता से मुक्ति पाने के लिए ईश्वर से याचना कैसे कर सकते हैं?[5] गांधी मानते थे कि धर्म के पवित्र नाम पर मनुष्य को उत्पीड़ित करते जाना कट्टर हटधर्म के अलावा और कुछ नहीं है।[6] गांधी जी का बल छूआछूत मिटाने के लिए हिंदू धर्म में सुधार लाने पर था। उन्होंने 'यंग इंडिया' में लिखा था, ''हिंदू धर्म के सुधार और उसके वास्तविक संरक्षण के लिए, छूआछूत को मिटाना सबसे आवश्यक बात है... छूआछूत को मिटाना... एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है।[7] अगर छूआछूत कायम रहता है तो हिंदू धर्म को खत्म हो जाना चाहिए।[8] गांधी लिखते हैं, ''मैं तो यहां तक कहूंगा कि छूआछूत कायम रहने से हिंदू धर्म का खत्म हो जाना ही अच्छा है।[9] गांधी जी छूआछूत को खत्म कर मानव जाति के पुनरुद्धार का सपना देखते थे। 'हरिजन' में उन्होंने लिखा था, ''छूआछूत से लड़ने और उस संघर्ष के लिए स्वयं को अर्पित करने में मेरी आकांक्षा मानव जाति के संपूर्ण पुनरुद्धार की है। वह सीपी में चांदी के आभास की तरह, मात्र एक स्वप्न भी हो सकता है। लेकिन मेरे लिए मेरी यह आकांक्षा यथार्थ है, अतः यह स्वप्न नहीं है। रोमां रोलां के शब्दों में 'विजय लक्ष्य की प्राप्ति में नहीं, अपितु उसके लिए अथक प्रयास में निहित होती है।''[10]

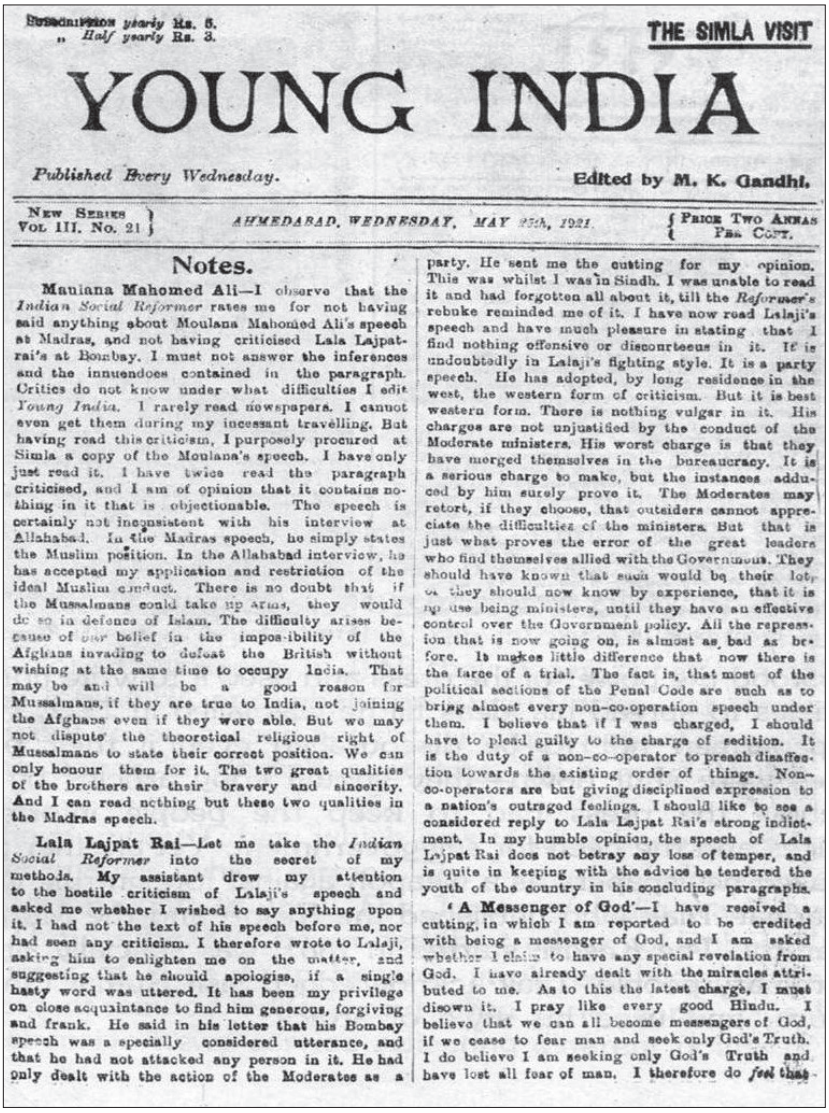

Subscription yearly Rs. 6.
" Half yearly Rs. 3.

THE SIMLA VISIT

YOUNG INDIA

Published Every Wednesday. Edited by M. K. Gandhi.

NEW SERIES VOL III. No. 21 | AHMEDABAD, WEDNESDAY, MAY 25th, 1921. | PRICE TWO ANNAS PER COPY.

Notes.

Maulana Mahomed Ali—I observe that the *Indian Social Reformer* rates me for not having said anything about Moulana Mahomed Ali's speech at Madras, and not having criticised Lala Lajpatrai's at Bombay. I must not answer the inferences and the innuendoes contained in the paragraph. Critics do not know under what difficulties I edit *Young India*. I rarely read newspapers. I cannot even get them during my incessant travelling. But having read this criticism, I purposely procured at Simla a copy of the Moulana's speech. I have only just read it. I have twice read the paragraph criticised, and I am of opinion that it contains nothing in it that is objectionable. The speech is certainly not inconsistent with his interview at Allahabad. In the Madras speech, he simply states the Muslim position. In the Allahabad interview, he has accepted my application and restriction of the ideal Muslim conduct. There is no doubt that if the Mussalmans could take up arms, they would do so in defence of Islam. The difficulty arises because of their belief in the impossibility of the Afghans invading to defeat the British without wishing at the same time to occupy India. That may be and will be a good reason for Mussalmans, if they are true to India, not joining the Afghans even if they were able. But we may not dispute the theoretical religious right of Mussalmans to state their correct position. We can only honour them for it. The two great qualities of the brothers are their bravery and sincerity. And I can read nothing but these two qualities in the Madras speech.

Lala Lajpat Rai—Let me take the *Indian Social Reformer* into the secret of my methods. My assistant drew my attention to the hostile criticism of Lalaji's speech and asked me whether I wished to say anything upon it. I had not the text of his speech before me, nor had seen any criticism. I therefore wrote to Lalaji, asking him to enlighten me on the matter, and suggesting that he should apologise, if a single hasty word was uttered. It has been my privilege on close acquaintance to find him generous, forgiving and frank. He said in his letter that his Bombay speech was a specially considered utterance, and that he had not attacked any person in it. He had only dealt with the action of the Moderates as a party. He sent me the cutting for my opinion. This was whilst I was in Sindh. I was unable to read it and had forgotten all about it, till the *Reformer's* rebuke reminded me of it. I have now read Lalaji's speech and have much pleasure in stating that I find nothing offensive or discourteous in it. It is undoubtedly in Lalaji's fighting style. It is a party speech. He has adopted, by long residence in the west, the western form of criticism. But it is best western form. There is nothing vulgar in it. His charges are not unjustified by the conduct of the Moderate ministers. His worst charge is that they have merged themselves in the bureaucracy. It is a serious charge to make, but the instances adduced by him surely prove it. The Moderates may retort, if they choose, that outsiders cannot appreciate the difficulties of the ministers. But that is just what proves the error of the great leaders who find themselves allied with the Government. They should have known that such would be their lot, or they should now know by experience, that it is no use being ministers, until they have an effective control over the Government policy. All the repression that is now going on, is almost as bad as before. It makes little difference that now there is the farce of a trial. The fact is, that most of the political sections of the Penal Code are such as to bring almost every non-co-operation speech under them. I believe that if I was charged, I should have to plead guilty to the charge of sedition. It is the duty of a non-co-operator to preach disaffection towards the existing order of things. Non-co-operators are but giving disciplined expression to a nation's outraged feelings. I should like to see a considered reply to Lala Lajpat Rai's strong indictment. In my humble opinion, the speech of Lala Lajpat Rai does not betray any loss of temper, and is quite in keeping with the advice he tendered the youth of the country in his concluding paragraphs.

'A Messenger of God'—I have received a cutting, in which I am reported to be credited with being a messenger of God, and I am asked whether I claim to have any special revelation from God. I have already dealt with the miracles attributed to me. As to this the latest charge, I must disown it. I pray like every good Hindu. I believe that we can all become messengers of God, if we cease to fear man and seek only God's Truth. I do believe I am seeking only God's Truth and have lost all fear of man. I therefore do *feel* that

अस्पृश्यता को तो गांधी जी खत्म करना चाहते हैं किंतु वर्ण व्यवस्था को नहीं। छूआछूत और जाति पर उन्होंने लिखा, ''अछूतों के कारण जाति-व्यवस्था को समाप्त करना उतना ही गलत है, जितना कि किसी भद्दी अंग वृद्धि के लिए शरीर को और खर-पतवार की वजह

से फसल को नष्ट कर देना। इसलिए, जिसे हम अछूतपन कहते हैं, उसे पूर्णतया नष्ट कर दिया जाना चाहिए। यदि सारी व्यवस्था को नष्ट होने से बचाना है तो इस अतिरेक का उच्छेदन आवश्यक है। छूआछूत जाति व्यवस्था के कारण उत्पन्न नहीं हुआ, बल्कि हिंदू धर्म में ऊंच-नीच के भेदभाव के कारण उत्पन्न हुआ है और इसे नष्ट कर रही है। इसलिए छूआछूत पर आक्रमण इस 'ऊंच-नीच' पने पर आक्रमण है। जिस क्षण छूआछूत का उन्मूलन हो जाएगा, जाति-व्यवस्था स्वयं शुद्ध हो जाएगी अर्थात, मेरे स्वप्न के अनुसार, सच्चे वर्ण धर्म की स्थापना हो जाएगी। समाज के चार भाग परस्पर पूरक होंगे जिनमें कोई किसी से श्रेष्ठ अथवा हीन नहीं होगा और प्रत्येक भाग हिंदू धर्म की समूची काया के लिए समान रूप से आवश्यक होगा।''[11]

वर्णाश्रम धर्म में अपनी आस्था के लिए जो गांधी जी तर्क देते हैं, वह सहजता से पचाने लायक नहीं है। वे लिखते हैं, ''वर्णाश्रम धर्म पृथ्वी पर मनुष्य के जीवन-ध्येय को परिभाषित करता है। मनुष्य धन-संपदा जुटाने और आजीविका के विभिन्न साधनों की खोज करते रहने के लिए बारंबार देह धारण नहीं करता, यह इसलिए देह धारण करता है कि अपनी ऊर्जा का एक-एक अणु अपने स्रष्टा को जानने में खर्च कर दे। अतः उसे, अपनी प्राण रक्षा के निमित्त, अपने पूर्वजों के व्यवसाय तक ही अपने को सीमित रखना चाहिए। वर्णाश्रम धर्म यही है। न इससे ज्यादा, न कुछ कम।''[12] गांधी कहते हैं, ''पैतृक व्यवसायों पर आधारित वर्ण व्यवस्था में मुझे विश्वास है। चार वर्ण चार सार्वभौम व्यवसायों से जुड़े हैं- ज्ञान देना, असहायों की रक्षा करना, कृषि और वाणिज्य कर्म तथा शारीरिक श्रम द्वारा सेवाएं प्रदान करना। ये चार व्यवसाय सारी मानव जाति में समान रूप से विद्यमान हैं। लेकिन हिंदू धर्म ने इन्हें हमारे अस्तित्व का नियम मानते हुए, सामाजिक संबंधों और व्यवहार को नियमन के लिए इनका इस्तेमाल किया है। गुरुत्वाकर्षण का नियम हम सभी को प्रभावित करता है, हम उसके अस्तित्व से परिचित हों या न हों। लेकिन जो वैज्ञानिक इस नियम से अवगत हैं, उन्होंने इसकी प्रयुक्ति से ऐसी-ऐसी चीजें निकाली हैं कि दुनिया हैरत में है। इसी प्रकार, हिंदू धर्म ने वर्ण के नियम की खोज और प्रयुक्ति से सारी दुनिया को आश्चर्यचकित कर दिया। जब हिंदू जड़ता के शिकार थे तब वर्ण-व्यवस्था के दुरुपयोग के फलस्वरूप असंख्य जातियां पैदा हो गईं और अंतर्जातीय विवाहों तथा अंतर्जातीय भोजों को लेकर अनावश्यक और हानिकर प्रतिबंध लगा दिए गए। वर्ण-व्यवस्था का इन प्रतिबंधों से कोई लेना-देना नहीं है। विभिन्न वर्णों के लोग परस्पर विवाह कर सकते हैं और एक-दूसरे के साथ बैठकर भोजन कर सकते हैं। ये प्रतिबंध शुद्धता और सफाई के हित में आवश्यक हो सकते हैं पर यदि कोई ब्राह्मण लड़का शूद्र लड़की से विवाह करता है या शूद्र लड़का ब्राह्मण लड़की से विवाह करता है तो इससे वर्ण के नियम का कोई उल्लंघन नहीं होता।''[13] गांधी का जोर शुद्धीकरण पर है। वे लिखते हैं, ''आज ब्राह्मण और क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र केवल नाम की चिप्पियां हैं। जहां तक मैं समझता हूं, वर्ण-व्यवस्था पूरी गड्डमगड्ड हो गई है और अच्छा हो, यदि सभी हिंदू स्वेच्छा से अपने को शुद्ध करना आरंभ कर दें। ब्राह्मणवाद की सच्चाई को साबित करने और सच्चे वर्ण-धर्म को पुनः प्रतिष्ठित करने का यही एकमात्र उपाय है।''[14]

गांधी जी कहते हैं, ''मैं मानता हूं कि प्रत्येक व्यक्ति इस संसार में कुछ सहज प्रवृत्तियां लेकर पैदा होता है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ निश्चित कमियां भी लेकर पैदा होता है जिन्हें वह दूर नहीं कर सकता। इन कमियों का सावधानी के साथ प्रेक्षण करने के फलस्वरूप ही वर्ण का नियम प्रतिपादित किया गया। इसने कतिपय प्रवृत्तियों वाले कतिपय लोगों के लिए कतिपय कार्य-क्षेत्र निश्चित कर दिए। लोगों की सहज कमियों को स्वीकार करते हुए भी, वर्ण के नियम में ऊंच-नीच का कोई भेद नहीं माना गया है, बल्कि इसने एक ओर तो प्रत्येक व्यक्ति को उसके परिश्रम का फल मिले, इसकी गारंटी दी और दूसरी ओर, उसे अपने पड़ोसियों पर दबाव डालने से रोका। इस महान नियम को विकृत कर दिया गया है और यह बदनाम हो चुका है। लेकिन मुझे पक्का विश्वास है कि जब इस नियम के निहितार्थों को पूरी तरह समझ कर इसे लागू किया जाएगा तभी आदर्श सामाजिक व्यवस्था विकसित हो सकेगी।''[15] लेकिन इसी के समानांतर गांधी जी अंतर्जातीय विवाह और अंतर्जातीय भोज के पक्ष में अपनी राय देते हैं। वे लिखते हैं, ''यद्यपि वर्णाश्रम में अतंर्जातीय विवाह और अंतर्जातीय भोज पर कोई पाबंदी नहीं है, पर इसमें कोई बाध्यता लागू नहीं की जा सकती। आदमी कहां शादी करे और किसके साथ भोजन करे, इसका फैसला करने के लिए उसे आजाद छोड़ देना चाहिए।''[16]

गांधी जी चार विभाजनों की वकालत

करते हैं। वे लिखते हैं, ''मैं चार विभाजनों को ही मौलिक, स्वाभाविक और आवश्यक मानता हूं। असंख्य उपजातियां कभी-कभी सुविधाजनक हैं, पर प्रायः ये अवरोधक सिद्ध होती हैं। इनका विलयन जितनी जल्दी हो जाए, उतना ही अच्छा है।[17] गांधी जी कहते हैं, ''आर्थिक दृष्टि से, एक जमाने में जाति का बड़ा महत्व था। इससे पैतृक कौशल की रक्षा होती थी और प्रतियोगिता मर्यादित रहती थी। यह कंगाली को दूर रखने का सर्वोत्तम उपाय था। इसमें व्यापार श्रेणियों के सभी लाभ थे। यद्यपि इससे साहस अथवा आविष्कार को बढ़ावा नहीं मिलता था, पर यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह उनके मार्ग में बाधक थी..ऐतिहासिक दृष्टि से, जाति-व्यवस्था को भारतीय समाज की प्रयोगशाला में मनुष्य का प्रयोग या सामाजिक संमजन कहा जा सकता है। यदि हम इसे सफल सिद्ध कर सकें तो इसे संसार की उसकी काया पलटने, निर्मम प्रतियोगिता को समाप्त करने और धनलोलुपता तथा लालच से उत्पन्न होने वाले सामाजिक विघटन को रोकने के सर्वोत्तम साधन के रूप में पेश कर सकते हैं।''[18] जाति और वर्ण के बारे में गांधी लिखते हैं, ''मैंने प्रायः कहा है कि मैं जाति का जो आधुनिक अर्थ है, उसमें विश्वास नहीं करता। यह अनावश्यक है और प्रगति के लिए बाधक है। न मैं मनुष्यों के बीच असमानताओं में विश्वास करता हूं। हम सब बिल्कुल बराबर हैं। लेकिन समानता आत्माओं की है, शरीरों की नहीं। अतः यह एक मानसिक स्थिति है। हमें समानता हासिल करनी है। एक व्यक्ति का स्वयं को दूसरे से श्रेष्ठ समझना ईश्वर और मानव के प्रति पाप है। अतः जाति, जहां तक वह ऊंच-नीच का भेद करती है, एक बुराई है।''[19]

गांधी ने 'द हिंदू' के 19 सितंबर 1945 के अंक में लिखा, ''जाति-भेद ने हमारे अंदर इतनी गहरी जड़ें जमा ली हैं कि उससे भारत के मुसलमान, ईसाई और अन्य धर्मावलंबी भी कुप्रभावित हो गए हैं। वैसे, जातिगत अवरोध कमोबेश मात्रा में दुनिया के अन्य भागों में भी पाए जाते हैं, इसका अर्थ यह है कि इस बीमारी से पूरी मानव जाति ग्रस्त है। इससे सच्चे अर्थ में धर्म की स्थापना करके ही दूर किया जा सकता है। मुझे किसी धर्म ग्रंथ में ऐसे अवरोधों और भेदभावों का विधान नहीं मिला। धर्म की दृष्टि में सभी मनुष्य बराबर हैं। विद्या, बुद्धि या धन के कारण कोई व्यक्ति अपने को उनसे श्रेष्ठ होने का दावा नहीं कर सकता जिनके पास इनका अभाव है। यदि कोई व्यक्ति सच्चे धर्म के शुचिकारी तत्व और अनुशासन से आप्लावित और पवित्रीकृत है तो उसे चाहिए कि अपने से कम भाग्यशाली लोगों से साथ अपने लाभों को बांटने का दायित्व निभाए। इस दृष्टि से, अपनी वर्तमान पतित अवस्था में, सच्चे धर्म का तकाजा है कि हम सब स्वेच्छा से अतिशूद्र बन जाएं। हमें स्वयं को अपने धन का स्वामी नहीं, बल्कि न्यासी मानना चाहिए और अपनी सेवा के उचित पारिश्रमिक से अधिक को अपने पास न रखते हुए शेष को समाज-सेवा पर लगा देना चाहिए। इस व्यवस्था में, न कोई अमीर होगा, न कोई गरीब। सभी धर्म समकक्ष माने जाएंगे। धर्म, जाति या आर्थिक शिकायतों को लेकर उठने वाले तमाम झगड़े विश्व शांति को भंग करना बंद कर देंगे।'' इस तरह स्पष्ट है कि गांधी की पत्रकारिता जाति भेद से पूरी शक्ति से टकराती है। गांधी जी वर्ण व्यवस्था में आस्था प्रकट कर संशय जरूर पैदा करते हैं लेकिन सिर्फ इसी कारण अथवा स्वानुभूति बनाम सहानुभूति का प्रश्न खड़ा कर गांधी के दलित संबंधी लेखन के महत्व को नहीं घटाया जा सकता। ■

**लेखक अंतर्राष्ट्रीय महात्मा गांधी हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में जनसंचार के प्रोफेसर हैं।*

संदर्भ

1. सेन शास्त्री, आचार्य क्षितिमोहन (2006) भारतवर्ष में जातिभेद, साहित्य भवन प्रा. लि., इलाहाबाद, पृष्ठ-7
2. 'यंग इंडिया', 04-05-1921, पृष्ठ-144
3. वही, 05-11-1931, पृष्ठ-341
4. 'हरिजन', 24-12-1938, पृष्ठ-393
5. 'यंग इंडिया', 25-05-1921, पृष्ठ--165
6. वही, 11-03-1926, पृष्ठ-95
7. वही, 06-01-1927, पृष्ठ-2
8. 'हरिजन', 28-09-1947, पृष्ठ-349
9. 'यंग इंडिया', 26-11-1931, पृष्ठ-372
10. 'हरिजन', 25-03-1933, पृष्ठ-3
11. वही, 11-02-1933, पृष्ठ-3
12. 'यंग इंडिया', 27-10-1927, पृष्ठ-357
13. वही, 04-06-1931, पृष्ठ-129
14. 'हरिजन', 25-03-1933, पृष्ठ-3
15. 'माडर्न रिव्यू', अक्टूबर 1935, पृष्ठ-413
16. 'हरिजन', 16-11-1935, पृष्ठ-316
17. 'यंग इंडिया', 08-12-1920, पृष्ठ-3
18. वही, 05-01-1921, पृष्ठ-2
19. वही, 04-06-1931, पृष्ठ-129

विज्ञापनों की थोथी राजनीति

कांशीराम (बहुजन समाज पार्टी के संस्थापक)

कहा जाता है कि आजकल का जमाना विज्ञापन का है। चाहे पचास पैसे की माचिस की डिब्बी हो या पचास लाख रुपये की विदेशी कार, सभी सामान विज्ञापनों के कंधों पर सवार होकर पहले व्यक्ति के दिमाग में घर करता है और धीरे-धीरे विज्ञापनों के दिन-रात प्रचार-प्रसार के कारण कब कोई 'व्यक्ति' चाहे अनचाहे 'ग्राहक' में तब्दील हो जाता है, पता ही नहीं चलता। सभी प्रचार माध्यम टीवी, रेडियो, पत्र-पत्रिकाएं सड़क चलते रास्ते में आदमी से ज्यादा विज्ञापन-होर्डिंग नजर आते हैं। कहने का अर्थ है कि आज के जमाने में यह पता ही नहीं चलता कि विज्ञापन आदमी के (उपयोग के) लिए बने हैं या आदमी विज्ञापनों के लिए बना है।

पश्चिमी देशों की व्यापारिक मानसिकता की एक महत्वपूर्ण खोज है कि प्रतिस्पर्धा के इस दौर में विज्ञापन एक 'जरूरी मुसीबत' बन गए हैं। इस तथ्य से आज मानव सभ्यता इन्कार नहीं कर सकती कि प्रचार माध्यमों का आज की जिंदगी में एक महत्वपूर्ण स्थान है तथा हमारे दैनिक जीवन में इसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।

लेकिन इस पूरे रंगीन तथा लुभावने विज्ञापन संसार के पीछे कई ऐसे कटु तथ्य भी छिपे हुए हैं, जिनकी जानकारी सामान्यतः आम आदमी तक नहीं पहुंच पाती, 'झूठ को सच' दिखाना तथा 'तिल का ताड़' बनाना विज्ञापन निर्माताओं का हर रोज का काम है। लेकिन यह इस 'उपभोक्ता युग' का एक अपरिहार्य हिस्सा है।

लेकिन पिछले कुछ समय से विज्ञापनों के माध्यम से 'साबुन-तेल-कंघी-बूट पालिश' आदि ही नहीं बल्कि 'नेता' भी बिकने लगे हैं। विशेषकर चुनाव के मौसम में भ्रष्ट, निकम्मे तथा षडयंत्रकारी नेता भी 'सड़े-पूंछे' से स्वच्छ छवि से बनाकर तमाम प्रचार माध्यमों के द्वारा जनता के सामने परोसे जाते हैं, ताकि जनता विज्ञापनों से प्रभावित होकर इन काहिल-जाहिल नेताओं के नकली क्रीम-पाउडर से चमकते-दमकते चेहरों के पीछे छिपी कालिख को भूलकर इन्हें 'अपना लें'। जिस (नेता) का दामन जितना दागदार होता है, उसको विज्ञापनों के माध्यम से उतना ही 'धुला हुआ' प्रोजेक्ट किया जाता है, ताकि जनता उसकी पुरानी करतूतों को भुलकर उसकी इस नकली चमक-दमक, लफ्फाजी को देखकर भावनाओं में बह जाए तथा अर्ध-सम्मोहन की अवस्था को प्राप्त कर अपना कीमती वोट इन नेताओं की थैली में डाल आए तथा इन भ्रष्ट नेताओं को अगले पांच साल तक उनका लूटतंत्र जारी रखने के लिए लाइसेंस प्रदान कर दे।

आजकल कुछ ऐसा ही एक अभियान केन्द्र की वाजपेयी सरकार द्वारा चलाया जा रहा है। 'भारत उदय' या 'इंडिया शाइनिंग' के लुभावने नाम से पिछले कई महीनों से यह अभियान वाजपेयी सरकार द्वारा चलाया जा रहा है, जिस पर कुल लागत लगभग 500 करोड़ रुपया है। यह पैसा भाजपाइयों ने अपनी जेब से नहीं, बल्कि जनता की गाढ़ी कमाई का पैसा आगामी चुनावों के मद्देनजर पानी की तरह इसलिए बहाया जा रहा है, ताकि इस देश की जनता वाजपेयी सरकार के पिछले पांच साल के भ्रष्ट इतिहास (तहलका, कफन घोटाला, जूदेव, पेट्रोल पंप कांड आदि-आदि) को भूलकर वाजपेयी सरकार द्वारा दिखाए जा रहे सपनों को इस नकली संसार की चमक-दमक में खो जाए तथा घास और आम की गुठली खाकर भूखी मरती जनता इस बहाव में बहकर वाजपेयी सरकार के हलवा-पूरी ठूंसते मंत्रियों तथा करोड़ों रुपयों का काल धन बटोरते चंद मनुवादियों की भांति 'फील गुड' (अच्छा महसूस) करने लगे। इसके पीछे एकमात्र उद्देश्य यही है कि इन विज्ञापनों की क्षणिक चकाचौंध से प्रभावित होकर इस देश की जनता 'भ्रष्टाचार-जननी-पार्टी' (भाजपा) को पुनः सत्तारूढ़ कर दे।

इस पूरे षडयंत्र में वाजपेयी सरकार तथा मनुवादी मीडिया की 'पार्टनरशिप' में जो अभियान चलाया जा रहा है, उससे देश की जनता को सावधान रहने की आवश्यकता है। इस मनुवादी 'लूट बाजार' के खेल का खुलासा करने के लिए एक उदाहरण देना काफी होगा। आर.एस.एस. के मुखपत्र पाञ्चजन्य के एक अंक में कुल 32 पृष्ठों में 21 पृष्ठ केवल सरकारी विज्ञापनों से भरे हुए हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि इसके लिए कई लाख रुपया भाजपा की पितृसंस्था आर.एस.एस के संचालकों की जेबों में पहुंच गया है इसी तरह वाजपेयी सरकार द्वारा बहाए जा रहे 500 करोड़ रुपयों में से अधिकांश मनुवादी मीडिया की जेबों में पहुंचना तय है। इस चुनाव पूर्व 'रिश्वत' के एवज में मनुवादी मीडिया भी 'हिज मास्टर्स वायस' की अंदाज में चुनाव के समय अपनी मनुवादी भूमिका अदा करेगा। चुनाव आयोग की इस विषय में प्रतिकूल टिप्पणी के बावजूद वाजपेयी सरकार का यह चौतरफा 'नंगा-नाच' जारी है। यह सब देखते हुए वाजपेयी जी की 'वोटकिया तुकबंदी' के अंदाज में केवल यही कहा जा सकता है -

झूठ, फरेब और धोखा, उनकी हर धड़कन में है।

छल से फिर सत्ता को पाने का इरादा मन में है।।

■

(बहुजन संगठक के 16 से 22 फरवरी, 2004 अंक में प्रकाशित संपादकीय)

विज्ञापन की विचारधारा के आयाम

डॉ. मीना कुमारी*

''वैश्वीकरण भाषाओं, संस्कृतियों और कविता का शत्रु है। उसका स्वप्न एक ऐसी मनुष्यता है जो उसी के गांव में बसती है, उसी तरह रहती-सोचती-पहनती, हाव-भाव रचती और खाती-पीती है। एक रासायनिक संस्कृति बोध से लैस इस मनुष्यता का आदर्श भी अंतरराष्ट्रीयवाद है। मगर अपने मूल मानवीय अर्थ के बिल्कुल उल्टे अर्थ में। वह वैश्विक मनुष्य तो पारंपरिक संस्कृतियों और ज्ञान को नष्ट करने वाला और अधिनायकवादी है जो केवल बाजार और उपभोग को मान्यता देता है।''[1]

स्वतंत्रतापूर्व और पश्चात के दो दशक मुक्ति आन्दोलन के साथ-साथ भारत जैसे अर्धसामन्ती-अर्धऔपनिवेशिक देश के लिए आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आयामों पर यंत्रणादायी एवं क्रमिक पूंजीवादी रूपान्तरण के भी साक्षी रहे हैं। आज इक्कीसवीं सदी के डेढ़ दशक की समयावधि में भूमण्डलीकरण, विकेन्द्रीकरण एवं परिणामस्वरूप उत्पन्न ध्रुवीकरण के कारण समाज-संस्कृति- राजनीति के हर स्तर पर तेजी से परिवर्तन हो रहा है। विकसित देशों की साम्राज्यवादी पूंजी के वर्चस्व और देशी पूंजी के साथ उसके नाजायज गठजोड़ ने पूंजी और श्रम के अन्तर्विरोध को मर्मांतक रूप से तीखा तो किया ही है, साथ ही, हैसियत और उपभोग में बंटे सामाजिक-वर्गों के अलंघ्य (दुर्गम) मरुस्थलीय पाट को और चौड़ा कर समूची सामाजिक संरचना में उथल-पुथल मचा दी है। वित्तीय पूंजी के निर्णायक वर्चस्व के इस दौर में एक ओर जहां बुर्जुआ जनवाद के विघटन की प्रक्रिया के साथ भारत जैसे देशों में निरंकुश सर्वसत्तावाद की राह और सुगम एवं पुख्ता हुई है, वहीं दूसरी ओर कट्टरपन्थी और फासीवादी बर्बर शक्तियों के सामाजिक-राजनीतिक आधार का भी विस्तार हुआ है। पूरी सत्ता और राजनीति का केन्द्र व्यवस्था नहीं बल्कि व्यक्ति के निरंकुश इरादों और वादों के हवाले हो गया है। संभवतः इसीलिए इस बदलते सामाजिक-राजनीतिक और सांस्कृतिक पटल पर उन्नत पूंजीवाद की रुग्ण-बर्बर मानवद्रोही-जनवाद निषेधी संस्कृति के बीच एक विचित्र किन्तु, प्रत्यक्ष सम्बन्ध निर्मित हो गया है। राजनीति उत्प्रेरित इस प्रतिक्रियावादी सम्मिश्रित सांस्कृतिक समाज की दशा-दिशा एवं नूतन (नये) अवतारों को इलेक्ट्रानिक मीडिया और प्रिण्ट मीडिया भी जन-जन तक पहुंचाने में प्रभावी भूमिका निभा रहा है।

भूमण्डलीकरण एवं बाजारवाद के खतरे वैश्विक स्तर पर राष्ट्रों, समाजों एवं सम्पूर्ण मानवता के लिए अवसर के साथ-साथ संकटों की अन्तहीन श्रृंखला लेकर आए हैं। बाजारवाद अवसर अवश्य प्रदान करता है किन्तु, सत्ता एवं शासन का केन्द्र वह कुछ हाथों को सौंप कर उन्हें निरंकुश भी बना देता है। वैश्वीकरण जिस सार्वभौमिक दुनिया को बना या गढ़ रहा है, उसमें भाषा, शिक्षा, संस्कृति एवं साहित्य का जिक्र भले हो, लेकिन, उसमें भाषिक-चेतना, जातीय-स्मृति, इतिहास-बोध, राष्ट्रीय अस्मिता और पारम्परिक-प्रगतिशील-मूल्यों की अभिव्यक्ति का अंशतः अघोषित निषेध शर्त के रूप में उभर कर सामने आता है। ''वैश्वीकरण की आंधी में बाजार मुख्य सत्ता बनकर उभरा है। उसने राजसत्ता को अपना पिछलग्गू बना लिया है। राजनीति आज सर्वग्रासी और सर्वभक्षी हो गई है। जिस चक्र को धर्म

पूरा कर चुका है, बाजार उस पर अपना विजय-रथ ले निकल पड़ा है। वास्तव में, संस्कृति के पण्यीकरण की प्रक्रिया ही ऐसी है कि मनुष्य जान ही नहीं पाता कि कब वह बाजार गया, कब उसका पुराना घर जल गया, कब उसने अपना घर फूंक दिया। वह सोच ही नहीं पाता कि उसका परिचालन एक बाह्य मस्तिष्क से संचालित है जबकि उसका अपना मस्तिष्क भी भाषा, चेतना और विचार-दृष्टि से समृद्ध है। भाषा, संस्कृति एवं साहित्य में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। साहित्यकार दूसरे प्रजापति (सृजनकर्ता) की भांति ऐसी अमानवीय स्थिति में सक्रिय हस्तक्षेप करता है, बाजार और राजनीति की नाभिनालबद्ध शक्तियों के विरुद्ध प्रतिपक्ष की संस्कृति का निर्माण करता है।"[2]

झूठ बेचने का कारोबार

समकालीन जीवन के उपभोगवादी यथार्थ के व्यापक प्रतिरोपण के लिए विज्ञापन बहुत ही कारगर उपकरण के रूप में अपनी महत्ता सिद्ध कर रहा है। विज्ञापन केवल अपनी नाटकीयता एवं सम्प्रेषणीयता के कारण ही उपभोक्ता के मानसपटल पर अमिट छवि का निर्माण ही नहीं करते हैं बल्कि आम जरूरतों से निपटते-थकते हलकान मध्यवर्ग को भी जीवन शानदार और आसान बनाने के लुभावने तथा चमकीले वादों के सुनहरे रैपर (wrapper) में अतार्किक सत्य बेचने का भी कार्य कर रहे हैं। यही कारण है कि हम चाहे-अनचाहे एक ऐसे युग-सत्य के भागीदार बनते जा रहे हैं जहां मनुष्य स्वयं उत्पाद बन गया है और वो मनुष्य सबसे सफल माना जा रहा है जिसने अपना सर्वाधिक विज्ञापन (Self-branding) किया हो। नरेन्द्र मोदी और अरविन्द केजरीवाल इस तथ्य के सद्यः उदाहरण हैं। देश-काल-जगत-मनुष्य की इस नवीनता को भीतर-बाहर से पहचानने, विज्ञप्ति हेतु प्रस्तुत मनुष्य की छटपटाहट को पकड़ने और भुनाने की अद्‌भुत क्षमता विज्ञापन में अंतर्निहित हो गई है। निम्न एवं उच्च मध्यवर्ग को इस विज्ञापन ने बड़ी चतुराई से पूरी तरह से 'टेक ओवर' कर लिया है और इसने इस वर्ग को बुरी तरह आत्मकेंद्रित, लालची, पैसा खोर, चमकीला और सतत दनदनाने और दमदमाने वाले वर्ग में रूपान्तरित कर दिया है।

विज्ञापन निर्माण के जो नियामक तत्त्व हैं वह हैं-सर्जनात्मकता, रचनाशीलता एवं मितकथन। किसी भी विज्ञापन की सफलता की बड़ी पहचान यह है कि उसके मूल में निहित पटकथा (Plot) अपने विषय और परिवेश तथा उसमें अनुस्यूत (गुंथा हुआ) उत्पाद के संदेश से हमारा साक्षात्कार किस रूप में कराया गया है और उस साक्षात्कार ने हमारे अनुभव क्षेत्र में संवर्धन एवं जीवन में गुणात्मक परिवर्तन लाने के लिए हमें किस स्तर तक प्रोत्साहित किया है। इसलिए यह केवल उत्पाद की विशिष्टता को द्योतित करने का सशक्त माध्यम भर बस नहीं रह गया है बल्कि एक पूरी विचारधारा के रूप में उभरकर सामने आया है जो मानव-मात्र की जीवन शैली को नियन्त्रित करने के साथ इस समुदाय पर अपना पूर्ण आधिपत्य भी चाहता है। दरअसल, विज्ञापन हमारे लिए रोज ऐसे सपने गढ़ रहा है जहां हमारी पूर्वप्राप्त उपलब्धियां एवं दैनिक जीवन की विविधतारूपी वास्तविकता हमें नीरस और निरर्थक लगती है और विज्ञापित वस्तु के घर तक न आ जाने की स्थिति तक जिन्दगी ही बेजार मालूम होने लगती है। ये हमारी उस भोगवादी मानसिकता को भी पोषित करती है जहां हम जीवन और जगत की साधारणता में निहित सौन्दर्य को जीवन की नीरसता एवं एकरूपता के रूप में देखते-परखते हैं।

इस कठिन और विस्मृतिशील समय में हर उस चीज को सहेजना और संभालना मुश्किल होता जा रहा है जो मूल्यों के धरातल पर महत्वपूर्ण तो है किन्तु, उनकी मौजूदगी से बाजार को कोई फायदा नहीं हो रहा है। इसलिए जीवन के व्यक्तिगत संघर्ष से लेकर सामाजिक जीवन की रसात्मकता और जरूरी प्रश्नों को शेयर बाजार की चढ़ती- गिरती ग्राफों ने ग्रास लिया है। बाजार के फायदे के लिए देश विशेष की चिर सभ्यता और संस्कृति की निर्मल नदी में चकाचौंध और अंधव्यवसाय के बड़े-बड़े चट्टान स्थापित कर उसके प्रवाह की निरन्तरता को बरबस अवरुद्ध किया जा रहा है। इसी कारण चौंधीयायी संस्कृति के सम्मोहन में आविष्ट (तल्लीन) युवा वर्ग एवं शक्ति को समाज और राजनीति उत्पादन में इस्तेमाल होनेवाले कच्चे माल के रूप में तो देखता है लेकिन, इस दिग्भ्रमित पीढ़ी के व्यक्तित्वांतरण पर बात करने के लिए भी बेजा समय किसी के पास नहीं है।

सच पर पर्दा

इस द्वंद्वात्मक संसार को समझने एवं जागतिक यथार्थ को स्वीकारने की समझ व्यक्ति को समझदार बनाती है। लेकिन, विज्ञापन जीवन एवं जगत के अपूर्व सत्य को धता बताकर उपभोक्ताओं के लिए एक ऐसे मायालोक का निर्माण करता है जहां विज्ञापित उत्पाद के इस्तेमाल से समस्त वांछित कार्य झटपट एवं मनभावन तरीके से संपन्न हो जाते हैं। उपभोगवादी मनोवृत्ति हमारी बुद्धि एवं चिन्तन पर इतनी हावी है कि हम 'जरूरी सामान' को

ठीक से परिभाषित भी नहीं कर पा रहे हैं। बाजार बनता देश और उसका समाज एवं संस्कृति पतन की सीमा पर जाकर ठहरेगा, इसका अंदाजा लगाना भी मुश्किल है। किसिम-किसिम के राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय ब्रैंड 'आवश्यकता एवं पूर्ति' के दायरे को फलांग कर पूरी दुनिया एवं मानव मात्र की सत्ता को अपने जबड़े में फंसा लेने के लिए व्याकुल है। बाजार में हर चीज बिकाऊ है क्योंकि समकालीन समाज की संस्कृति में वस्तु की महत्ता बाजार भाव से ही तय हो रही है। सम्भवतः इसी दारुण स्थिति से व्यथित होकर भवानीप्रसाद मिश्र ने लिखा है- जी हां हुजूर, मैं गीत बेचता हूं, तरह-तरह के गीत बेचता हूं/किसिम-किसिम के गीत बेचता हूं।''

रोहिणी अग्रवाल बाजार और व्यक्ति के बीच के इसी आर्थिक तंत्र पर प्रकाश डालती हुई कहती हैं, ''काहे रे मन दस दिसि धावै, विषिया संग संतोष न पावै'' - कबीर की करारी फटकार में आज के बाजार-तंत्र से जूझने की ललकार है। जरूरत है संयमित होकर बाजार के शास्त्र और मनोविज्ञान को जानने की जिसका तंत्र टिका है ढेर से उत्पादों, उत्पादकों, उपभोक्ताओं पर और वजूद मीडिया-विज्ञापन और छवियों पर। बाजार केंद्र है लेकिन केंद्र होने के दंभ से बहुत दूर मात्र 'स्रष्टा' की अकिंचन छवि से संतुष्ट। वह एक नया शास्त्र गढ़ता है जहां पहले चरण में केंद्र होने का दंभ सेवा और परोपकार जैसे सकारात्मक जीवन मूल्यों को धारण करता है। दूसरे चरण में वह सीमित साधन संपन्न क्रेता को ससीम (सीमा में बंधा) जीवनचर्या से निकाल कर लालसाओं के निःसीम व्योम में प्रतिष्ठित करता है जहां उसकी कल्पना लालसा को साकार करना असीमित साधन संपन्न उत्पादक/पूंजीपति का अहोभाग्य बन जाता है। घोर विस्मय! आंखें मल-मल कर अपने को चिकोटी काटने की नाटकीय स्थिति... कहना न होगा कि - यहां थैला-बटुवा-लस्त पस्त चाल वाली तुच्छ छवि की प्रेत छाया से मुक्त कर वह 'उपभोक्ता' को अहम्मन्य (घमंडी) नशीली केंद्र छवि में अवतरित करता है जहां साधन से उत्पादन तक, विज्ञापन से वितरण तक केंद्र में बस वही है। तीसरे चरण में बाजार अहम्मन्यता को मीठे नशे में ढाल कर उपभोक्ता को ज्यादा से ज्यादा परनिर्भर और निष्क्रिय बनाता है, इस कदर कि उपभोग से मिलने वाले आनंद की बजाय उपभोग की सतत दुश्चिंता उसके अस्तित्व की पहली शर्त बन जाती है। यहां क्रेता जो न्यूनतम भौतिक आवश्यकताओं से परिचालित मूलतः 'मनुष्य' है और इसलिए बाजार के दबावों का प्रतिरोध करने में सक्षम है, को उपभोक्ता जो लालसाओं के अनावश्यक विस्तार के कारण स्वयं उत्पाद बन गया है, में तब्दील करने के बाद बाजार 'स्रष्टा' का मुखौटा उतार कर अपनी मूल केंद्र यानी शोषक की भूमिका में आ जाता है। चूंकि वह हर उस व्यक्ति से भयभीत है जो संयम, आत्मानुशासन, विश्लेषण, दृढ़ इच्छा शक्ति और चयन के सीमित अवसरों के साथ जीवन-क्षेत्र में उतर कर भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए मानवीय दायित्वों को संपन्न करना अपना परम कर्तव्य समझता है, अतः चौथे और अंतिम चरण में स्मृतियों के लोप की पुरजोर पैरवी करता है, यानी बाहर और भीतर बाजार का अनंत विस्तार।''[3]

विज्ञापनों का मायाजाल

एक परिवार में आमतौर पर इतनी चीजें अटी पड़ी रहती हैं जितने से हमारी पूर्व पीढ़ी अपने साथ चार और परिवार का जीवनयापन स्वस्थ ढंग से कर लेती थी। किन्तु, अब स्थिति भिन्न है। हर ब्रैंड विज्ञापन के द्वारा अपनी पहुंच को घर-घर तक सुनिश्चित कर रहा है और विज्ञापन भी अपनी प्रभावशीलता के कारण समाज के निम्न एवं उच्च मध्यवर्ग में स्वनिर्धारित स्टेटस एवं स्टैण्डर्ड तय कर देते हैं। इस पूरे प्रकरण में उत्पाद की गुणवत्ता कहीं भी फ्रेम में नहीं होती है। बस ब्रैंड विशेष का नाम देखकर यह स्वीकार कर लिया जाता है कि उसकी गुणवत्ता भी विज्ञापन के प्रभाव की भांति टिकाऊ एवं बढ़िया होगी। मन में प्रकट यह स्वतःस्फूर्त विचार कि 'बस नाम ही काफी है' विज्ञापन की मानसपटल पर पड़नेवाले प्रभाव को ही संसूचित करता है। विज्ञापन की प्रभावशीलता के लपेटे में आकर हमारी बुद्धि ज्ञानात्मक संसार की तंग गली में विचरने लगती है जहां तथ्य-विश्लेषण नामक अतिथि को हम दहलीज से ही लौटा देते हैं और अपनी स्वाभाविक उपभोगवादी मनोवृत्ति को जतन से पाल-पोसकर उसके साथ विज्ञापित उत्पाद को अपने जीवन का हिस्सा बना लेते हैं। एक और चीज जिसे हम बाजारवाद का प्रतिफलन ही मान सकते हैं वह यह कि जीवन एवं समाज को परिभाषित करनेवाली मानव-व्यवहार की संवेदनाजनित भाषा विज्ञापन के प्रभाव के कारण मानवीय पतन एवं निर्संवेदनात्मकता की भीतरी सीमा तक की खतरनाक यात्रा करने लगी है। समकालीन समय में जीवन के नैतिक मूल्यों के पतन की पारदर्शी बर्फ इतनी ठोस हो चुकी है कि उस बर्फ से झांकते सत्य की ऊष्मा भी उसे पिघला नहीं पा रही है, वह भी सुन्न हो कठुआ-सा गया है।

विज्ञापन का बढ़ता वर्चस्व और मध्यवर्गीय जीवन एवं जनता का उसपर अगाध विश्वास लगातार उसकी ताकत में इजाफा कर रहा है और संकटापूरित मानवद्रोही स्थितियों को भविष्य में भी सर्वाधिक स्पेस देने के लिए सूत्र तलाश कर रहा है। समाज नैतिकता के पुराने अनुबंधों को तोड़कर नये समाजशास्त्रीय नियमों को गढ़ रहा है। विज्ञापन और उसके उत्पाद से प्रेषित संदेश रोज अपनी ही मान्यताओं को तोड़ने के लिए उकसा रहे हैं। ब्रैंड विज्ञापन के द्वारा नित्य नए विकल्प उपलब्ध करा रहे हैं और उपभोक्ता भी ढेरों उपलब्ध विकल्पों में से किसी एक को चुनने के लिए हलकान है एवं अपने द्वारा चुने गए उत्पाद को बेहतर साबित करने के लिए बेसब्र।

सोशल मीडिया की सवारी

विज्ञापन का एक और रंग बाकी रंगों की भी चमक फीकी कर रहा है वह है-फेसबुक, ट्विटर, वॉट्सएप, इंस्टाग्राम, गूगल प्लस, वी चैट, लिंक्ड इन और न जाने तमाम कितने निःशुल्क सामाजिक नेटवर्किंग साइटों के माध्यम से स्वयं का विज्ञापन करना-कराना। इन साइट्स पर स्वयं को पसंद किए जाने की दीवानगी या यूं कहें सनक इस कादर हावी है कि आये दिन एक-से-एक नायाब करतब और ऊल-जुलूल हरकतों से लैस फोटो एवं वीडियो इनके वॉल पर बिंल्क करते मिल जाते हैं। अपनी यौनिकता को स्वेच्छा से प्रचारित-प्रसारित करती युवतियां, अपने नितान्त निजी क्षणों को आभासीय संसार के मित्रों से साझा करते युगल, किसिम-किसम के ब्रैंडो को पहनकर इठलाते मध्य एवं उच्चमध्यवर्गीय परिवारों की गर्वोन्मुक्त तस्वीरें, कमेंट बॉक्स में लोकप्रिय होने के लिए बोल्ड और अश्लील भाषा का प्रयोग, निरंतर नूतन (आधुनिक) दिखने की लालसा में विभिन्न ब्रैंडों की अंधाधुंध खरीदारी और अपने रुतबे तथा सामाजिक हैसियत के बेबाक प्रदर्शन में देशी-विदेशी यात्राओं पर बेशुमार खर्च करने की लत-यह सभी वृत्तियां समाज को इन्हीं सोशल नेटवर्किंग साइट्स की ही देन है। इनके वर्चस्व की बात करें तो साथ और पास रहने वाले सम्बन्ध भी विशिष्ट दिनों की शुभकामनाएं भी इन्ही आभासीय माध्यमों के द्वारा देते हैं। चिट्ठी की आवश्यता को लैंडलाइन फोन ने, लैंडलाइन फोन को मोबाइल ने और इन सभी माध्यमों की आवश्यकता को सोशल नेटवर्किंग साइट्स ने लगभग खत्म ही कर दिया है। साथ ही, विशेष उत्सवों एवं विशिष्ट दिनों पर आनेवाले बहुप्रतीक्षित कार्डों की प्राप्ति की उत्सुकता को तो इन्होंने हमेशा के लिए शमित (खत्म) कर दिया।

सांस्कृतिक हमला

वसुधैव कुटुम्बकम की अवधारणा के परिपालन का दावा करने वाली इस संस्कृति में कुटुम्बों के यहां छुट्टियां मनाना अब फजीहत और बोरियत का सबब बन गया है। अभी यात्रा.कॉम के हालिया विज्ञापन में सम्बन्धियों के यहां ठहरने, उनके यहां की गुदगुदानेवाली दिक्कतों एवं प्रतिक्रियाओं तथा मेहमानों से मेजबानों की अपेक्षा को इतने कुत्सिक ढंग से दर्शाया गया है कि उसमें भारतीय संस्कृति की रीढ़ माने जानेवाले सहसम्बन्ध एवं साहचर्यत्व की अवधारणा को समूल (पूरी तरह से) नष्ट करने के षड्यंत्र की बू भी आती हुई लगती है। (देखे विज्ञापन- https://www.youtube.com/watch?v=3ocyd6q4eRs&sns=em) इस संस्कृति ने पिछले एक दशक में मानव-मात्र की मानसिकता में आमूलचूल परिवर्तन ला दिया है। जिस संस्कृति को विदेशी आक्रमणकारी, उनका दीर्घ शासनकाल और षड्यंत्र नहीं बदल सका और इकबाल जो यह कहते हुए फर्क महसूस करते हैं कि 'यूनान-ओ-मिस्र-ओ-रोमा सब मिट गए जहां से। अब तक मगर है बाकी नामों-निशां हमारा। कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी। सदियों रहा है दुश्मन दौरे-जमां हमारा' अब बेमायने मालूम होने लगे हैं। दरअसल ''पूंजीवाद के आरंभ होने पर 'उपभोग की इच्छा' के बदले 'उपभोग की क्षमता' अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई जिससे लोगों को अपनी पूरी योग्यता और शक्ति से उत्पादन प्रक्रिया में योगदान करने के लिए प्रेरित किया जिससे अपनी क्रय क्षमता बढ़ाकर वांछित वस्तुओं और शक्तियों को जुटा सकें।''[4] सामाजिक नेटवर्किंग साइट्स का जीवन पर पड़ते व्यापक प्रभाव के नतीजन वांछित वस्तुओं और शक्तियों की सूची ने अपना बेतरह इजाफा कर लिया है। यह परिभाषित करना कठिन हो गया है कि जीवन के लिए कौन सी वस्तु अधिक जरूरी है-शराब या पानी? रुपया या रुतबा? सम्बन्ध या अकेलापन? अंतर्मुखी सोच या समाजोन्मुख संवेदनशीलता? विज्ञापन मनुष्य को लगातार नए उत्पादों, नए फैशन, नई चलन और नई शैली की जानकारी देकर उसे खबरदार करता रहता है और उसे बाजार की ओर स्वतःस्फूर्त ढंग से धकेलने का कौशल भी रच लेता है। विज्ञापन अक्सरहां अपनों के सपनों की बात कर हमारी दुबकी-सिमटी संवेदनाओं को झिड़की देने का कार्य तो करता है लेकिन, बाजार और उसके भाव को तौलकर 30 सेकेण्ड की कथा-कहानी से प्राप्त शीतल-फुंहारें से जीवित संवेदनाएं पुनः वर्चस्ववादी बन

अपने सुरक्षा एवं रुतबे को सुरक्षित करने की चिन्ता में मग्न हो जाता है।

ब्रैंड का भ्रम

अंतरराष्ट्रीय ब्रैंड के प्रति ललक और लालसा को फेसबुक और अन्य सामाजिक नेटवर्किंग साइट्स ने बहुत पल्लिवत और पुष्पित किया है। भारत जैसे प्रगतिशील देश में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफडीआई) की 49 प्रतिशत भागीदारी की सरकारी मंजूरी इसी बात की तस्दीक करती है कि हमारी सरकारें भी क्या चाहती हैं और समाज के विभिन्न वर्गों को बाजार से सीधे जोड़ने के लिए कितने सन्नद्ध हैं। राजनीति की यह घिनौनी एवं दोहरी मानसिकता न केवल देश और प्रदेश की सांस्कृतिक विविधता को नष्ट करने पर अमादा है वरन् यह हमारे आंखों को एक ऐसे मंजर का भी अभ्यस्त बना रही है जिसके लिए हम आज से दस साल पहले तक तैयार नहीं थे। शरीर को प्रसाधन का केन्द्र बना दिया गया है और तमाम ब्रैंड भी उपभोक्ता को 'निज सुख-निज उन्नति' के मंत्र की साधना करवाने के लिए कृतसंकल्पित दिख रहे हैं। भारत जैसे भाषायी-सांस्कृतिक-भौगोलिक बहुलता वाले देश में भी अन्तरराष्ट्रीय ब्रैंड्स का जादू सबके सर चढ़कर बोल रहा है। इस जादू की ओट में हमारी संवेदनाएं एवं अनुभूतियां रेजा-रेजा बिखर रही हैं जिसका हमें इल्म भी नहीं है। खोमचेवाले, सड़कों पर सब्जी बेचने वाले, रिक्शेवाले, ठेलेवाले, कुम्हार, बढ़ई और अन्य न्यूनतम मजदूरी पर काम करनेवाले कामगर से हम उसके श्रम या वस्तु का गुंडई की हद तक मोल-भाव करते हैं लेकिन आंखों को चौंधियाते मॉलों एवं विभिन्न विक्रय साइटों पर बिकनेवाले अन्तरराष्ट्रीय ब्रैंडों की गुणवत्ता परखे बिना हजारों रुपये खर्चकर हम संतोष से भर जाते हैं कि आज हमें फलां ब्रैंड को पहने का गौरव प्राप्त हुआ है। दरअसल, अंतरराष्ट्रीय बाजार ऐसी आवश्यकताओं को जन्म देता है जिसको स्थानीय संसाधनों के आधार पर संतुष्ट नहीं किया जा सकता है। विदेशी वस्तुओं के खुले आम स्थानीय बाजार में प्रवेश से उनके प्रति स्थानीय लोगों की ललक बढ़ती है और वे उन्हें येन-केन-प्रकारेण प्राप्त करने की कोशिश करते हैं।

अतार्किकता की पैठ

विश्लेषण के क्रम में 'स्वहित' (जिसे विज्ञापन पूर्णरूपेण पोषित करता है) को लालच का ही दूसरा नाम स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि 'बाजार अर्थव्यवस्था न सिर्फ प्राकृतिक वस्तुओं को बल्कि मानव सम्बन्धों को भी 'माल' में परिवर्तित कर देता है'। इसीलिए अलाभकारी लोग एवं सम्बन्ध दोनों ही बाजार एवं भूमण्डलीकृत समाज के लिए गैरवाजिब और गैरजरूरी साधन हो गए हैं। सम्बन्ध अब बोलते-बतियाते नहीं हैं, हुलसते-ललकते नहीं हैं, बस उनकी विज्ञप्ति करते हैं। अपने सम्बन्धियों से जरूरतों पर मौके-बेमौके पैसे की अपेक्षा करना अब मात्र शर्मिन्दगी का विषय हो गया है। तरह-तरह के बीमा विज्ञापनों ने तो हमें और भी भीरू और कायर बना दिया है। कहीं ये (विज्ञापन) शरीर को विशेष ब्रैंड के डियो से सुगंधित करने पर आसपास कमनीय लड़कियों का अम्बार लग जाना दर्शाते हैं तो कहीं सेनेटरी नैपकीन के प्रयोग को प्रतियोगिता में अव्वल आने का कारक बता डालते हैं। हद तो तब है जब दमड़ी के लिए यह विज्ञापन गोरी चमड़ी वाली लड़की का हुनरवाली प्रतियोगिता जीतते दर्शाता है, तो कभी पिता से अपनी बात मनवाने का कारण भी। विज्ञापन की आंधी में इसके प्रचार-प्रसार में शामिल अभिनेता और अभिनेत्री जहां गोरे और कालेपन के भेद के साथ बेतुके फायदे की वकालत करते नजर आते हैं, वहीं यह भी दर्शाया जाता है कि गोरे होने से मार्केट डिमांड से लेकर नौकरी मिलने में भी आसानी होती है। यही नहीं आजकल तो अपने गुप्तांगों को भी सफेद बनाने का विज्ञापन हम अपने परिवार के साथ देखने को बाध्य हैं। मनीषा लिखती हैं, ''औरतों के प्राइवेट पार्ट को कालेपन से मुक्ति दिलाने के नाम पर क्रीम बेचने की कल्पना करने वाली कंपनी की रचनात्मकता से ज्यादा, उसका साहस कमाल का है! शील-संकोच और निजता की मारी अपनी औरतों में इतना खुलापन नहीं आया है कि वे कामुकता का सार्वजनिक प्रदर्शन करने में जुट जाएं। अभी तो वे खुलकर यौन-स्वातंत्र्य की चर्चा करने में सकुचा ही रही थी कि अचानक बाजार ने भूचाल-सा ला दिया। ...सेनेट्री नैपकीन-टैम्पून या कंडोम जैसी चीजों का नाम जुबान पर लाने में संकोच करनेवाली हमारी स्त्री अवाक है।''[5]

विज्ञापन में विज्ञापित उत्पाद प्रच्छन्न रूप से मनोमस्तिष्क पर यह प्रभाव देते हैं कि हमारी समस्त दुविधा, समस्या एवं आवश्यकता की पूर्ति करने में यह पूर्णतया सक्षम हैं। विज्ञापन ने हमारी जरूरत की छोटी सी दुनिया को इतना विस्तार दे दिया है कि अपनी जरूरतों के बीच हमारे परिचित, सगे-सम्बन्धी, जीवन को अनमोल किन्तु अलक्षित सत्य, स्मृतियों को दीप्त करनेवाली चीजें, ठिकाने और यहां तक कि हम भी कहीं खो से गए हैं। हमारे

पास उनके बारीक ब्यौरों को टटोलने, उनकी आत्मा में धंसने तथा उनकी हरकतों को पकड़ने एवं पुचकारने का अवकाश नहीं रह गया है।

गैर बराबरी को बढ़ावा

विज्ञापन की वास्तविकता को स्पष्ट करते हुए अमेरिकी अर्थशास्त्री एडवर्ड चौंबरलिन ने अपनी पुस्तक 'ए थियरी ऑफ मोनोपोलिस्टिक कंपटीशन' में लिखा था कि वह युग खत्म हो गया, जब हर उत्पाद के ढेरों निर्माता होते थे और उनके बीच प्रतिस्पर्धा होती था। इसके लिये प्रत्येक उत्पाद अपनी गुणवत्ता को सुधारने की कवायद में जुट जाता था, जिससे वो ग्राहकों को आकर्षित कर सके। दशकों पहले यह वास्तविकता एकदम सटीक बैठती थी, किन्तु आज का बाजार विज्ञापन के मायाजाल में फंसाकर मूर्खता के चोंगे में लपेटने के इंतजार में बैठा है। इसी दिग्भ्रमित उत्तर-आधुनिक दौर को मनोहर श्याम जोशी 'नो ब्राउ' संस्कृति की संज्ञा देते हैं जिसमें उच्चतर एवं निम्नतर कला का विभेद समाप्त हो जाता है। जॉन सीवुड के हवाले से उन्होंने लिखा है ''अब बाजार की संस्कृति है और संस्कृति का बाजार है।'' बाजार में हर वस्तु बिकने को आती है और बिकाऊ वस्तु की दिव्यता और श्रेष्ठता का वैसे भी क्षरण होना आरंभ हो जाता है। इन विज्ञापनों ने जो एक प्रभावी काम किया है वह है- आय के आधार पर विभाजित समाज के उच्च वर्ग एवं निम्न वर्ग के भेद को पाटना। विकसित देश में तंग गलियों में रहनेवालों का पहनावा-ओढ़ावा, खान-पान, संगीत-संस्कृति अब वैश्विक रूप से फैशन स्टेटमेन्ट बन गया है। इसे लक्षित करते हुए मनोहर श्याम जोशी अपने लेख 'नो ब्राउ संस्कृति : घटिया-बढ़िया एक समान' में लिखते हैं, ''सीब्रुक के अनुसार घटिया और बढ़िया, सुरुचि और कुरुचि में भेद मिटाने की दिशा में एक दिलचस्प बात यह हुई है कि उपभोग की साधारण सामग्री को विशिष्ट का दर्जा दे दिया गया है। न्यूयॉर्क के गली-कूचों में रहनेवाले गरीब और अपराधों से आजीविका चलानेवाले लड़कों के संगीत रैप को अमीरों का भी संगीत बना दिया गया है। गरीबों की पोशाक जींस और टी शर्ट अमीरों की पोशाक बना दी गई। फिर भी अमीरी-गरीबी में फर्क बनाए रखने के लिए उसकी कीमत में फर्क रखा गया। जो चीज गरीबों के लिए तीन डॉलर की है वह अमीरों के लिए तीन सौ डॉलर की है। उत्पादक, वितरक, बाजार विशेषज्ञ और मीडिया मिलकर नो ब्राउ संस्कृति को प्रतिष्ठित कर रहे हैं, वह हमारी नई संस्कृति के लिए बहुत खतरनाक साबित हो सकती है क्योंकि इस तरह की समस्या के समाधान के लिए बुद्धि और विवेक की मांग करेगी, जबकि नो ब्राउ बुद्धिहीनता तथा विवेकहीनता को समर्पित है।''[6] यह इसलिए भी बाजार द्वारा नियोजित ढंग से किया गया कि समाज के बीच सांस्कृतिक, भौगोलिक, सामाजिक या अन्य विविधताओं के कारण जो महीन विभाजक रेखाएं थीं, अनेकता में एकता का जो सौन्दर्य था, उसे भस्मीभूत (पूरी तरह भस्म) कर इस वैविध्यमय समाज को बस भीड़ में तब्दील कर दिया जाए, वह भीड़ जो बाजार की भाषा समझती है और उन्हीं के निर्देशित मानकों का अनुसरण करती है। मध्यवर्ग जो एक भरा-पूरा समाज था जहां आपसी समझ, परस्पर व्यवहार, नाते-रिश्तों की अहमियत, सामाजिक परंपराओं की जीवंत प्रणालियों की उपस्थिति पूरी शिद्दत से मौजूद थी जिससे समाज में निरन्तरता और क्रमबद्धता बनी रहती है और समाज पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ता है, उसे भी भीड़ में आगे बढ़ जाने की धड़फड़ ने रिक्त कर दिया है। सर्वहारा वर्ग के संघर्ष और आर-पार की लड़ाई का उद्घोष करने वाला लेनिन, मार्क्स और गांधी का वर्ग, अंतिम आदमी को क्रांति की कसौटी माननेवालों का वर्ग अब क्लीवों एवं बौद्धिक बौनों के वर्ग में तब्दील होता जा रहा है, सौहार्द्रता एवं नैतिकता रूपी उसकी रीढ़ टूट-सी गई है। चूंकि, राष्ट्र, समाज, संस्कृति और राजनीति को यही पेट्टी बुर्जुआ वर्ग अनुशासित करता है और यही वर्ग भूमण्डलीकरण का सबसे प्रबल समर्थक है। इसके सपनों में अब तक नियंत्रित अवसरों के आगे की दुनिया की आशा है, जहां विश्व-स्तर की आमदनी और पश्चिमी देशों जैसी भोगमय जीवनधारा में बार-बार डुबकी लगाने की सम्भावना हो सकती है। इसलिए पिछले दो दशकों से भूमंडलीकरण में निहित आवारा पूंजीवाद की असलियत एवं असर को समझने-जानने के बावजूद यह विदेशी पूंजी के साथ भारतीय बाजार की जुगलबंदी का अपने स्वार्थों के कारण लगातार समर्थन कर रहा है।

बौद्धिक कायरों की फौज

पिछले दो दशक भारत के लिए नवीन सम्भावनाओं एवं आशाओं के बीच पलता-बढ़ता रहा है और इन स्वप्नों को पर लगाने का चमत्कारिक कार्य विज्ञापनों ने भी किया है। निजीकरण, उदारीकरण और भूमण्डलीकरण के त्रिक् के बीच एक नवीन भारत का निर्माण हुआ है जिसमें सर्वहारा वर्ग तेजी से पेट्टी बुर्जुआ वर्ग में वर्गान्तरित हो गया है। सलीकों और सम्बन्धों में जीनेवाला भारत पोर्न-स्टारों को मुख्यधारा में लाकर उसे

तो महिमामण्डित कर रहा है किन्तु, बाजार द्वारा निर्धारित मानक को पूरा करने में व्यक्ति अगर चूक रहा है तो बाजार विज्ञापन की रचनात्मकता का भरपूर प्रयोग करते हुए वस्तु को प्राप्त करने में असमर्थ उस व्यक्ति को हाशिए पर धकेल देता है। यह उन्हीं के स्वागत के लिए प्रस्तुत होता है जिनके पास सन्दर्भों, सवालों, सरोकारों एवं खतरों से टकराने के बजाए बेचने के लिए माल है अथवा उस माल को खर्चने के लिए पैसे हैं। क्लीवों और बौद्धिक कायरों की फौज में तब्दील होती इस दुनिया में किसी संवेदनशील आत्मा की आवाज प्रतिरोध में हुंकार भरती है तो समाज का कर्णधार बना बैठा बाजार उसके सामने भी चारा फेंककर उसके पुंसत्व (पौरुष) को नष्ट करने का समस्त उपचार करता है। वह उस व्यक्ति के संवेदनात्मक विस्तार को खारिज करने के लिए नए एजेण्डे तैयार करता है जिससे उसके संवेदनशील मन-मस्तिष्क को छला जा सके।

विज्ञापन ऐसे आदर्श का यूटोपिया रचता है जिसमें जीवन में कहीं कोई पेंच नहीं है, कुछ भी असुंदर नहीं, कुछ भी खतरनाक नहीं, कहीं कोई रुग्णता नहीं है। बस जेब में पैसे होने चाहिए, हंसने का बहाना और तरीका भी बाजार आपको विज्ञापनों के जरिए दिखाएगा। हम ऐसे क्रूर वर्तमान का हिस्सा बनते जा रहे हैं जहां तरक्की और वर्चस्वप्राप्ति के लिए हम किसी से भी छल-प्रपंच करने से नहीं कतराते। यही कारण है कि श्रेष्ठताग्रन्थी के मद में चूर व्यक्ति को बेबसी और लाचारी से भींगी आंखें बेजार करती है और दिनभर के थके-मांदे मजदूर की शाम में खिलखिलाती कत्थई हंसी मन में जुगुप्सा पैदा करती है। इसलिए सर्वाधिक सम्पन्न और सफल होने के पाखंड को चीरकर भीतर के खुशगवार मौसम को सबके साथ भोगने को अपनी क्षुद्रता समझ बैठे हैं। भूमण्डलीकरण का जो मूल मंत्र है 'वसुधैव कुटुम्बकम्ब', वही सबसे बड़ा छलावा सिद्ध हुआ है। इसने समस्त विश्व को कुटुम्ब तो नहीं बनाया वरंच (बल्कि), हमारे कुटुम्बों को कतारबद्ध खड्गहस्त प्रतिद्वंदी अवश्य बना दिया है। पश्चिम जो अब लगातार परिवार और भाषा, प्रकृति एवं संस्कृति के संरक्षण की बात कर रहा है, उसी को धता बता कर हमने आज स्वयं और अपनी आनेवाली पीढ़ियों को मुक्त बाजार के बंधन में कैद कर दिया है।

विज्ञापन का सच

लेकिन, इतनी कठिन परिस्थितियों एवं क्रूर सच के बीच कुछ विज्ञापनों का सच यह भी है कि ये अनूठे रहस्यलोक की छवियों को साकार तो करते ही हैं, साथ ही, बाजार के कठोर अनुशासन के अवसाद से दबी-बूझी अमानवीय स्थिति से संघर्ष करते हुए मानवीयता एवं संवेदनशीलता को प्रक्षालित (पाक-साक) करने का गहन संदेश भी देते हैं। वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में उदारता और मानवीय गरिमा के सर्वोत्तम भाव का जब लगभग तिरोधान हो चुका है और विज्ञापनों की मायावी और अ-वास्तविक दुनिया में बैठे हम लोग अपना सामाजिक और सम्बन्धगत दायरा व्यावसायिक फायदे के लिए बढ़ाना चाहते हैं, ऐसे में मानवीय संवेदनाओं से संपूरित विज्ञापनों में निहित संदेश एवं रचनाभाव हमें अपनों को, अपने में और समाज में अधिक गहरे रोपने के भाव को प्रबल बनाने का सार्थक प्रयास करता है, जिसे हम दरकिनार नहीं कर सकते। इसलिए कुल मिलाकर इस सच्चाई से इन्कार नहीं किया जा सकता कि विज्ञापन केवल उत्पादों के लिए बाजार और ग्राहक का निर्माण बड़े चतुराई और आक्रामक ढंग से करता है। लेकिन, इस तथ्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है कि विज्ञापनों के कथानक में अनुस्यूत मानवीय जीवन एवं संवेदनाओं को छूते कथ्य उत्पादों के प्रचार के बीच में चुपके से छद्मता और त्रिमता के गहन अंधकार को तिरोहित कर देने वाले सम्बन्धों की संवेदनागत उजास को भी जीवन के पारदर्शी आइने में उजागर कर देता है जो इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि मानी जा सकती है।

**बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में फेलो*

■

सन्दर्भ-ग्रंथ सूची :

1. वीरेन डंगवाल (फरवरी, 2005 में साहित्य अकादेमी सम्मान समारोह में दिये गये वक्तव्य से)
2. मिश्र, अवधेश नारायण एवं राजीव रंजन प्रसाद, शीर्षक आलेख 'संचार की मनोभाषिकी और उत्तर संस्कृति' (संपादक डॉ. शशिकला त्रिपाठी), कला प्रकाशन, वाराणसी, प्र.सं. 2013, पृ. 76
3. अग्रवाल, रोहिणी, http:wwasuvidha.blogspot.com
4. मिश्र, गिरिश एवं पाण्डेय, ब्रजकुमार, भूमण्डलीकरण : मिथक एवं यथार्थ, अभिधा प्रकाशन, पृ. 206
5. मनीषा, खरी-खरी, 25 अप्रैल 2012, आधी दुनिया, राष्ट्रीय सहारा
6. जोशी, मनोहर श्याम, प्रभात रंजन, पत्रकारिता के युग निर्माता, प्रभात प्रकाशन, 2013, पृ.81 पर उद्धृत

यह खबर रचने का वक्त है

राजेश कुमार*

वह 2017 नहीं था। वह बिहार के उप-मुख्यमंत्री भी नहीं थे, राजनीति और सत्ता के शिखरों की ओर भ्रष्टाचार, दंगों, फर्जी मुठभेड़ों, हत्या और जाने किन-किन मामलों के आपराधिक किरदारों की सरपट दौड़ के समय में मवेशियों का चारा खाने के पूर्व-आधुनिक आरोपों में बार-बार सींखचों के पीछे पहुंच जाते रहे एकमात्र राजनेता के पुत्र भी नहीं।

वह 2007 का अंत रहा होगा या शायद 2008 का प्रारम्भ - अमेरिका के साथ असैनिक परमाणु करार के मसले पर तब की कांग्रेस नीत संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन सरकार और बाहर से उसे समर्थन दे रहे वाम मोर्चा के बीच तनाव और घात-प्रतिघात के दिन थे। प्रणब मुखर्जी विदेश मंत्री थे और प्रस्तावित परमाणु करार पर विवाद के समाधान के लिए गठित संप्रग-वाम समन्वय समिति के संयोजक भी, सो समिति की बैठकें उन्हीं के निवास पर हुआ करती थी। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और दो अन्य संसदीय वामदलों को कवर करने वाले हम कुछ पत्रकार आकाशवाणी और संसद भवन एनेक्सी के बीच की सड़क पार कर गुरुद्वारा रकाबगंज के गोल चक्कर पर पहुंच जाते और वहीं तालकटोरा रोड के मुहाने पर प्रणब दा की कोठी में जाती सड़क के दोनों ओर गेट तक लगभग एक-दूसरे पर चढ़े ट्राइपॉडों-कैमरों और ओ.वी. वैनों तक उलझी-फैली तारों के आतंक के मारे, दूर चाय की दुकान के आसपास या यों ही फुटपाथ पर डेरा जमा लेते थे।

यह माइक और भारी-भरकम कैमरों की बेचैन आवाजाही में सिर-हाथ सलामत रखने की हम प्रिंट वालों की जुगत थी। बेशक तीसरी-चौथी बैठक बीतते-बीतते संप्रग और वाम के मतभेद गहरे होने लगे थे, तनाव कम होने की बजाय बढ़ने ही लगा था, लेकिन हम जानते थे कि असली खबर बैठक खत्म होने पर जारी संयुक्त वक्तव्य में तो मिलने से रही। वह तो बैठक से निकल रहे नेताओं की टिप्पणियों-बाइटों में भी शायद ही मिले। हम जानते थे कि असल बात जानने के लिए तो वहीं रकाबगंज रोड पर फारवर्ड ब्लॉक के कार्यालय जाना होगा या आधेक घंटे बाद बर्द्धन, येचुरी या डी.राजा से संपर्क साधना होगा, सो हमने किन्ही एक-दो नेताओं की तुरन्ता बातें सुनने की बजाय अधिकतर, चैनलों के ही अपने युवतर साथियों से संयुक्त वक्तव्य की प्रति हासिल करने और अधिकाधिक नेताओं की बाइट के ब्यौरे जान लेने का एक तंत्र विकसित कर लिया था।

संभव है कि इस रणनीति में हमारी काहिली की भी कोई भूमिका रही हो, या कि दोस्तों-मित्रों के साथ चाय पर चकल्लस और बहस-अनंता के चस्के का कोई योग, लेकिन उन दिनों माइक-कैमरा-ट्राइपॉडों की अफरा-तफरी में चोट खा जाने के भय में घिरे हम जैसे पत्रकार अक्सर कहते थे कि आनेवाले समय में मीडिया में नौकरी के विज्ञापन शायद ऐसे होने लगें कि "जरूरत है स्नातक और मान्यता प्राप्त किसी मीडिया संस्थान से डिग्री एवं प्रशिक्षण से लैस, ऊंची कद-काठी के तगड़े, बलिष्ठ और शारीरिक रूप से तंदुरुस्त ऐसे संवाददाता की जिसकी अधिकतम आयु 26 साल हो।"

हम तब भी जानते थे कि यह

अतिकथन था। लेकिन सबसे पहले साझा वक्तव्य झपट लेने, सबसे महत्वपूर्ण नेता की बाइट सबसे पहले पा लेने की पेशेवर प्रतिस्पर्धा इतनी गलाकाट हो चली थी कि होश का वक्त बीत चला था। ऐसी ही बेहोशी में एक दिन हुआ यह कि समिति की बैठक खत्म हुई, शायद सीताराम सेचुरी और केन्द्रीय मंत्री पृथ्वीराज चव्हाण ने संयुक्त वक्तव्य पढ़ा, वक्तव्य की प्रतियां लुटी और फटी और माइक, कैमरे थामे कई रिपोर्टर, नेताओं की ओर झपटे। बाइट उस्तादों की इसी छीना-झपटी-धक्का-मुक्की में भाकपा के महासचिव ए.बी. बर्द्धन गिरे-घिसटे और उनके राष्ट्रीय सचिव डी. राजा को भीड़ हटाने और उन्हें संभालने में खासी मशक्कत करनी पड़ी।

तीन-चौथाई सदी की उम्र बिता चुके बर्द्धन तब भी कमजोर तो नहीं ही थे। कहीं जरूर कोई धक्का, कोई चोट लगी होगी, वैसे ही जैसे अभी 12 जुलाई 2017 को बिहार के उप-मुख्यमंत्री तेजस्वी यादव को ए.एन.आई की माइक सिर पर लगी थी, इतनी जोर से कि उनका हाथ रिफ्लेक्स ऐक्शन में वहां सहलाने लगा था, गो इसी प्रकरण को लेकर मीडिया पर तेजस्वी के सुरक्षाकर्मियों के हमलों का शोर जिन वीडियो फुटेजों के बारम्बार प्रसारण के साथ उठाया गया, उनमें यह पूरा दृश्य लापता था। उन फुटेजों में एक फोटो-पत्रकार और तेजस्वी के सुरक्षाकर्मी की झड़प और सुरक्षाकर्मी के चेहरे पर फोटो-पत्रकार के कैमरे के वार का दृश्य भी गायब था। ये दोनों दृश्य उस वीडियो-क्लिप में थे, जो तेजस्वी यादव की ओर से बाद में जारी किए गए और मानना चाहिए कि यही अविकल, पूरा वीडियो था, क्योंकि इसमें फोटो-पत्रकार को सुरक्षाकर्मियों द्वारा पकड़कर नीचे लाने और उसके साथ मारपीट के वे अंश भी थे, जिन्हे बार-बार चलाकर 'पावन-पवित्र मीडिया पर देश के परम-भ्रष्ट नेता के भ्रष्ट पुत्र के हमले के महापाप' का चालाक कथानक रचा गया। सबसे तेज, सबसे पहले की पेशेवर प्रतिस्पर्धा में ए.बी. बर्द्धन जैसे समाचार स्रोत को ही घसीट-गिरा देने के इस किस्से में तेजस्वी यादव के इस दशक भर बाद के अवांतर प्रसंग में एक आखिरी बात यह कि 'कुछ दिनों से लालू प्रसाद यादव के पीछे पड़े होने और उनके बारे में नये-नये खुलासे कर रहे होने के रिपब्लिक टी.वी. के दावे पर ध्यान दिए बिना 'देश के परम-भ्रष्ट नेता के भ्रष्ट पुत्र के महापाप' के कथानक के रचाव को समझ पाना असंभव होगा। यद्यपि रिपब्लिक टी.वी. का दावा चैनलों में चलाये गए वीडियो फुटेजों की तरह ही अर्धसत्य है और पूरा सत्य यह है कि चैनल ने 6 मई 2017 को अपनी प्रसारण यात्रा जेल में बंद अपराधी मोहम्मद शहाबुद्दीन से लालू प्रसाद की बातचीत के ऑडियो टेप के खुलासे के साथ शुरू की और उससे भी बड़ा सच यह है कि विपक्ष के बड़े-बड़े महारथियों के समर्पण के इस दौर में प्रधानसेवक के सामने तन कर खड़ा होने का साहस करनेवाले किसी भी नेता के पीछे पड़ना सत्तारूढ़ गठबंधन के ही एक सांसद की भारी-भरकम पूंजी से चल रहे इस चैनल की अपरिहार्य संरचनागत मजबूरी होनी चाहिए।

तो साहब, डी. राजा, सीताराम येचुरी और अन्य वाम नेताओं की मदद से ए. बी. बर्द्धन कार में सवार हुए और किसी को कोई बाइट दिये बिना ही अजय भवन रवाना हो गए। कुछ वाम नेताओं ने घटना के समय पत्रकारों को बुरा-भला कहा और बाद में भी उनके असंयमित-अशोभन व्यवहार की आलोचना की। हद तो यह कि स्वयं ए. बी.बर्द्धन ने उसी दिन उनसे मिलने गए पत्रकारों की खासी लानत-मलामत की, जबकि वह भी जानते थे कि अव्वल तो प्रिंट के लोग ऐसे करतबों में पड़ते नहीं और चैनलों के पत्रकारों को भी छोटे पर्दे पर दिखने-बोलने के उन जैसे नेताओं के आम लोभ ने ही ऐसे करतब का हौसला दिया है। बहरहाल, तब न वह घटना खबर बनी, न पत्रकारों-मीडियाकर्मियों की आलोचना।

वह 2007 था और वह ए.बी. बर्द्धन थे, कहीं वह 2017 होता और वह बर्द्धन या आज के योगी-शिवराज-रमण नहीं, कोई तेजस्वी होते, या मायावती, ममता तो खबर बनती और कुछ वैसी ही बनती जैसी अभी 12-13 जुलाई को बनी। प्रबंधन की नीतियां लागू करने, मालिक और विज्ञापकों के हितों का पूरा-पूरा ख्याल रखने, इसके लिए सत्ता से संपर्क एवं ताल्लुकात बनाने और पेशेवर प्रतिस्पर्धा में सबसे तेज, सबसे पहले की प्रतिज्ञा का शारीरिक दमखम प्रदर्शित करने की काबिलियत से पत्रकारिता शायद अब बहुत दूर निकल आई है - यह खबर खोजने-जुटाने का नहीं, खबर रचने-पकाने का वक्त है, 'मीडिया विजिल' की अपनी टिप्पणी में अभिषेक श्रीवास्तव ने जिसे 'सुपारी पत्रकारिता' का वक्त कहा है।

■

लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं।

मीडिया से ज्यादा ट्रंप पर भरोसा

अमेरिका में ज्यादातर रिपब्लिकन लंबे समय से राष्ट्रीय मीडिया की उदारवादी प्रवृत्ति के चलते उसकी खिल्ली उड़ाते हैं। इसके बावजूद, टेक्सास के एक रिपब्लिकन प्रतिनिधि लैमर स्मिथ का कहना है कि बेहतर होगा कि अपनी खबर सीधे राष्ट्रपति से हासिल की जाए। वह अपने सहयोगियों से कहते हैं, असल में, सच्चाई जानने का यही एक मात्र तरीका है। ऐसा लगता है कि पूरे देश में रिपब्लिकन अपने दिल की ही सुनते हैं।

सर्वे एजेंसी यूगोव के जरिये द इकोनॉमिस्ट ने 1,500 अमेरिकी नागरिकों से जानना चाहा कि वे राष्ट्रीय मीडिया और राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप में से किस पर सबसे ज्यादा भरोसा करते हैं।

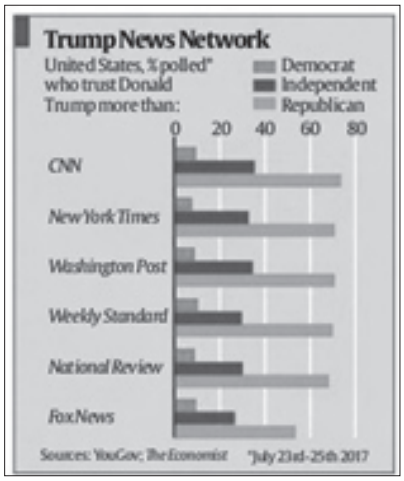

जब रिपब्लिकन सर्मथकों से पूछा गया कि क्या वे ट्रंप पर ज्यादा भरोसा करते हैं या द न्यूयार्क टाइम्स, द वाशिंगटन पोस्ट या सीएनएन पर भरोसा करते हैं? इस पर 70 फीसदी लोगों ने ट्रंप में भरोसा जताया जबकि 15 प्रतिशत से भी कम लोगों ने राष्ट्रीय मीडिया संगठनों पर भरोसा करने की बात कही। (इसके अलावा शेष कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं थे)।

स्थिति यह है कि दक्षिणपंथी बुद्धिजीवियों के बीच लोकप्रिय पत्रिका वीकली स्टैंडर्ड और नेशनल रिव्यू पर भी रिपब्लिकन विश्वास करना मुनासिब नहीं समझते और इसकी बजाय वे ट्रंप पर ही भरोसा करते हैं। रिपब्लिकन थोड़ा सा भरोसा फॉक्स न्यूज पर करते हैं क्योंकि अभी वह एक मात्र ऐसा खबरिया चैनल है जिसे ट्रंप प्रशासन तरजीह देता है। 23 प्रतिशत लोगों ने फॉक्स न्यूज नेटवर्क में भरोसा जताया जबकि 54 फीसदी का ट्रंप में विश्वास बना हुआ है। अमेरिका में फॉक्स न्यूज को दक्षिणपंथी रुझान वाला मीडिया संस्थान माना जाता है।

गौरतलब है कि रिपब्लिक समर्थकों के बीच मीडिया को लेकर कभी भी कोई आकर्षण देखने को नहीं मिला। यूगोव ने अक्टूबर मध्य में अमेरिकियों के बीच एक सर्वे किया था, जिससे यह पता लगाया जा सकता है कि राष्ट्रपति चुनाव के बाद से ट्रंप को लेकर लोगों की सोच में कितना बदलाव आया है। राष्ट्रपति चुनाव के दौरान ट्रंप के खिलाफ सबसे अधिक मुखर रहे वाशिंगटन पोस्ट और न्यूयार्क टाइम्स ऐसे अखबार हैं जिनकी रिपब्लिकन के बीच विश्वसनीयता में क्रमशः सात और नौ फीसदी की बढ़ोतरी हुई है। हालांकि फॉक्स न्यूज एक मात्र ऐसा अमेरिकी मीडिया संस्थान है जिसके प्रति रिपब्लिकन की सोच में कोई बदलाव नहीं आया है।

इसकी भी अधिक संभावना है कि निरंतर टकराव वाले रवैया के चलते ट्रंप की साख में गिरावट आई हो। घंटों टेलीविजन देखने वाले ट्रंप ट्विटर पर अपने साढ़े तीन करोड़ फॉलोवरों को अपनी टिप्पणी से निरंतर अवगत कराते रहते हैं। वह इस मंच पर अपने चापलूसों की जमकर तारीफ करते हैं जबकि अपने आलोचकों को कोसने से वह कतई नहीं चूकते।

राष्ट्रपति बनने के बाद से ट्रंप फॉक्स न्यूज की कम से कम 87 बार ट्वीट पर तारीफ कर चुके हैं। उन्होंने अमेरिका की स्वास्थ्य प्रणाली में बदलाव को लेकर रिपब्लिकन के प्रयासों की आवश्यकता को बता चुके होंगे।

मीडिया कंपनियों के बीच ट्रंप को लेकर कई कहावतें चलने लगी हैं। ट्रंप के राष्ट्रपति का कार्यभार संभालने के बाद से उनसे संबंधित 79 बार फेक न्यूज पकड़ में आ चुकी हैं। वह 21 बार न्यूयार्क टाइम्स के खिलाफ कड़े अपमानजनक शब्दों का इस्तेमाल कर चुके हैं।

स्थिति यह हो गई है कि रिपब्लिकन अब मुख्यधारा की मीडिया से इस कदर घृणा करने लगे हैं कि मीडिया को चुप कराने के लिए असंवैधानिक कदम उठाए जाने तक के पक्ष में भी दिखने लगे हैं। यूगोव के जरिये जब यह पूछा गया कि क्या अदालत को पक्षपात या गलत खबरें प्रसारित करने पर मीडिया संस्थानों को बंद कर देना चाहिए? 45 फीसदी रिपब्लिकन ने इसके लिए हामी भरी जबकि 20 प्रतिशत मीडिया बंदी के खिलाफ है। वहीं जबकि आधे से अधिक ऐसी गलती करने पर मीडिया संस्थानों पर जुर्माना लगाने के पक्ष में हैं।

गलत खबर प्रसारित करने पर मीडिया संस्थानों को बंद करने या उसके खिलाफ जुर्माना लगाने के पक्ष में विचार -

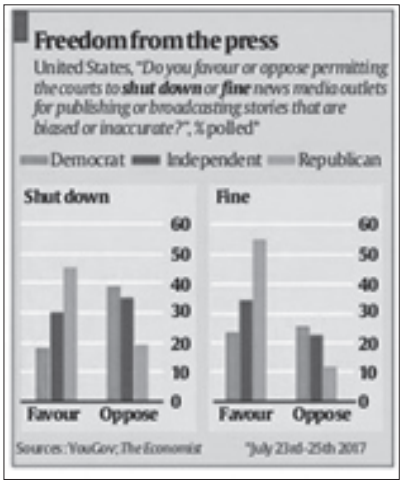

अंग्रेजी से अनुवाद : ***वरुष शैलेश***
(द इकोनॉमिस्ट से साभार)